दंसण मूलो धम्मो

आत्मधर्म

शाश्वत सुखका मार्गदर्शक आध्यात्मिक मासिक

वीर सं० 2498 तंत्री-पुरुषोत्तमदास शिवलाल कामदार, भावनगर वर्ष 27 अंक नं० 7

आत्मा की महिमा

(सवैया)

चेतन अनादि नवतत्त्व में गुपत भयो,
शुद्ध पक्ष देखें स्वसुभावरूप आप है।
कनक अनेकवान भेदकों धरत तौऊ,
अपने सुभाव में न दूसरो मिलाप है॥
भेदभाव धरैंहू अभेदरूप आतमा है,
अनुभौ किएतैं मिटै भवदुखताप है।
जानत विशेष यौ अवशेष भाव भासत है,
चिदानंददेव में न कोऊ पुण्य-पाप है॥

[कविवर दीपचंदजी]

चारित्र

ज्ञान

दर्शन

श्री दिगंबर जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट, सोनगढ (सौराष्ट्र)

नवम्बर : 1971] वार्षिक मूल्य 3) रुपये (319) एक अंक 25 पैसा [कार्तिक : 2498

उत्तम पुरुषों के हृदय की बात

— उत्तम पुरुषों के शुद्ध हृदय-सरोवर में कौन विराजता है ?

उत्तम पुरुषों के हृदय-सरोवर में कारण आत्मा विराजमान है, शोभायमान है।

— उत्तम पुरुष कौन हैं ?

जिनके हृदय में रागादि परभावों का निवास नहीं है, लेकिन परमब्रह्म परमात्मा जिनके अंतर में विराजमान है—ऐसे धर्मी जीव ही उत्तम पुरुष हैं। जिनके अंतर में राग का निवास है—राग से आत्मा की शोभा मानते हैं, वे जीव उत्तम नहीं परंतु हीन हैं।

— उत्तम धर्मात्मा किसको भजते हैं ?

अंतर में विराजमान अपने कारणपरमात्मा को ही भजते हैं।

— कारणपरमात्मा कैसा है ?

'वह तू ही है' (स त्वम्)

— मोक्ष के लिये किसको भजना ?

अंतर में विराजमान अपने कारणपरमात्मा को ही शीघ्र भजो।

— सिंह जैसे पुरुषार्थवान हे भव्य शार्दूल ! अंतर में शुद्धदृष्टि द्वारा जिसको तू भज रहा है, उसी को उग्ररूप से शीघ्र भज !

— तीक्ष्ण बुद्धिवाले उत्तम पुरुष अर्थात् अंतर्मुख बुद्धिवाले शुद्धदृष्टि जीव अपने एक शुद्धात्मा को ही भजते हुए परम आनंदरूप मोक्ष को साधते हैं।

शाश्वत सुख का मार्गदर्शक मासिकपत्र

आत्मधर्म

संपादक : ब्र० हरिलाल जैन 卐 सह-संपादक : ब्र० गुलाबचंद जैन

नवम्बर : 1971 ☆ कार्तिक : वीर नि० सं० 2498, वर्ष 27 वाँ ☆ अंक : 7

नमः समयसाराय स्वानुभूत्या चकासते।
चित्स्वभावाय भावाय सर्वभावांतरच्छिदे॥

देखो, समयसार का यह अलौकिक मंगलाचरण है। मंगल का प्रारंभ कहाँ से होता है ?—किसी भी परपदार्थ से मुझे लाभ होता है, ऐसी मिथ्याबुद्धि से जो पर का आदर करता था, उसे छोड़कर चिदानंदस्वभाव ही मुझे लाभदायक है—ऐसी रुचि-महिमा करके उसमें झुकना-ढलना-परिणमित होना, वह अपूर्व मंगलाचरण है। जहाँ ऐसे स्वभाव की ओर के आदर का भाव प्रगट हुआ, वहाँ बीच में शुभराग आने से देव-गुरु-शास्त्र की ओर के आदर का भाव आये बिना नहीं रहता; परंतु स्वभाव का आदर छोड़कर अकेले पर के आदर में जो अटका, उसे तो वस्तु का भान नहीं है।

अहो! अनादि से मैंने अपने स्वभाव का आदर छोड़कर पुण्य-पाप का तथा पर का आदर किया, उसके बदले अब मैं शुद्ध चैतन्यस्वरूप का ही आदर करके उसमें नमता हूँ—उसमें ढलता हूँ। इस प्रकार जो अंतर में ढला, उसे स्वभाव से हटकर पर के आदर-बहुमान का भाव नहीं आता।

समयसार तो अपना शुद्ध आत्मा है। सर्वज्ञभगवान ने एक समय के विकार से रहित जो त्रैकालिक शुद्ध स्वभाव देखा है, उसका नाम 'समयसार' है। वह समयसार कैसा है ?—कि जगत में सत्भावरूप पदार्थ है, स्वभावभूत वस्तु है, अभावरूप नहीं है। स्वयं को ऐसे चैतन्य की ओर उन्मुख करके आचार्यदेव ने यह मंगलाचरण किया है।

मैं अपने चैतन्यसुख का अनुभव करता हूँ

[नियमसार, कलश 199 पर पूज्य स्वामीजी का प्रवचन]

(आश्विन शुक्ला-2)

अहा, इस चैतन्यसंपत्ति के समक्ष जगत की किसी भी संपत्ति का मूल्य नहीं है। जिसने अंतर की अनुभूति द्वारा ऐसी चैतन्यसंपत्तिवाले आत्मा को प्राप्त किया है, वही सच्चा लक्ष्मीवान है; बाकी जो बाह्य के संयोग से बड़ाई लेना चाहते हैं, वे सब दरिद्र हैं। भगवान! तू निर्धन नहीं, दीन नहीं; तू तो चैतन्यसंपत्ति से भरपूर भगवान है... सुख की संपत्ति तो तुझमें ही भरी हुई है। ज्ञान को अंतर्मुख करके अपने स्वरूप की समाधि द्वारा उसका अनुभव कर... तेरा आनंदमय आत्मवैभव तीन लोक में सर्वश्रेष्ठ है, वह तेरी ही समाधि का विषय है-अर्थात् तेरे अंतर्मुख उपयोग में ही वह प्राप्त होता है; इसके अतिरिक्त अन्य किसी उपाय से उसकी प्राप्ति नहीं होती। इसलिए अंतर के उपयोग द्वारा सुख-संपत्ति से भरपूर अपने 'चैतन्यधाम' में आनंद से निवास कर।

अनंत चैतन्यशक्ति से भरपूर अपनी प्रभुता को भूलकर जीव संसार की चार गतियों में जहाँ-जहाँ गया, वहाँ-वहाँ शुभराग के फलरूप दुःख का ही अनुभव किया। अरेरे, आत्मा तो चैतन्यस्वरूप विशुद्ध सुखधाम है; उसको भूलकर मैंने अभी तक विषवृक्ष के फल की भाँति दुःख का ही अनुभव किया; परंतु अब मैं उस भूल को छोड़ता हूँ और अपने शुद्ध चैतन्यसुख का अनुभव करता हूँ। मेरी अनुभूति में भव के दुःख का अभाव है। चैतन्यस्वभाव के अमृत को भूलकर चार गति का भाव, वह विषवृक्ष है, उसका फल दुःख ही दुःख है—चाहे स्वर्ग में हो, वहाँ भी जीव अज्ञानभाव से दुःखी है। परंतु जहाँ चैतन्यशक्ति का अनुभव हुआ, स्वयं ने अपनी प्रभुता देखी, वहाँ अपने आत्मा में से ही अनुपम अतीन्द्रिय रागरहित का महान सुख उत्पन्न हुआ, उस शुद्ध सुख का ही मैं अनुभव करता हूँ। देखो, यह धर्मात्मा का अनुभव!

भाई! तेरे सुख की उत्पत्ति तो आत्मा में से होगी कि बाह्य में से आयेगी? अरिहंतों को जो केवलज्ञानादि अनंतसुख से भरपूर लक्ष्मी प्रगट हुई है, वह कहाँ से आयी? राग तो उन्हें नहीं है, विषयों की ओर लक्ष्य नहीं है, अंतर के चैतन्य के वेदन में से ही परम सुख आता है। ऐसे चैतन्य के वेदन से हटकर अन्य की ओर लक्ष जाने से जो वेदन होता है, वह तो विषफल की भाँति दु:ख है; ऐसे समस्त पराश्रित भाव को दु:खरूप जानकर धर्मी छोड़ देता है तथा अंतर्मुख अपने चैतन्यतत्त्व के वेदन द्वारा आत्मा के शुद्ध सुख का अनुभव करता है। ऐसे अनुभव का नाम समाधि है, उसमें शांति है; वह निजगृह में निवास है।

अरे जीव! तू अनंतकाल से शांति के लिये तरस रहा है तो अपनी प्यास बुझाने के लिये अंतर्मुख होकर चैतन्यसरोवर के अतीन्द्रियरस का स्वाद ले। तेरे अंतर में ही मीठे मधुर आनंदरस का सरोवर भरा हुआ है, उसमें उतरकर आनंदरस नहीं पीता और मृगजल की भाँति बाह्य के शुभ-अशुभ विषयों की ओर दौड़कर तू दु:खी हो रहा है। परंतु तेरा आत्मा उस शुभ-अशुभ रागस्वरूप नहीं है, तेरा आत्मा तो सुख के चैतन्य से भरा हुआ है। अपनी रुचि को परभाव से हटाकर अपने चैतन्य में लगा। आनंदरस का धाम तू स्वयं ही है। आनंद-ज्ञान-शांति ऐसे अनंतरस तुझमें भरे हैं। अंतर में एक बार दृष्टि तो कर। इस शरीर के स्थान पर ही (परंतु शरीर से बिलकुल भिन्न) तू स्वयं अंतर में चैतन्यरस से भरपूर है, राग से भी तेरा चैतन्यरस भिन्न है। इसप्रकार चैतन्यस्वरूप के सुख को तू अनुभव में ले।

बस, अब मैंने अपना पक्ष बदल दिया है; विभाव से विमुख होकर मैं अपने स्वभाव के सन्मुख हुआ हूँ। मेरा चैतन्यस्वभाव अतीन्द्रिय सुख की सुगंध से भरपूर है, परभाव की उसमें गंध भी नहीं है। अनादि से परभाव का पक्ष करके दु:खी हुआ था, अब परभाव का पक्ष छोड़कर, अपने चैतन्यस्वभाव के पक्ष में मैं अतीन्द्रिय सुख का अनुभव करता हूँ। आत्मा के अनुभव में तो आनंद का झरना झरता है।

आत्मा में से क्या निकलता है?—आत्मा में से तो चैतन्यसुख निकलता है। ध्रुवस्वभाव में परिणति एकाग्र होने से वह पर्याय अतीन्द्रिय आनंदरूप हो गई है। जिसमें अतीन्द्रिय आनंद नहीं आता, वह ज्ञान नहीं है। अंतर्मुख ज्ञान में आत्मा के अनंत रस भरे हैं, उसमें सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र का समावेश है, उसमें परम आनंद है। ऐसे आनंद के वेदन सहित आत्मा का

ज्ञान प्रगट होता है। आनंदरहित ज्ञान, वह सच्चा ज्ञान नहीं है।

भाई, तुझे सुखी होना है ना? सुख की उत्पत्ति तो तेरे आत्मा से होती है, इसलिए उपयोग को आत्मा में एकाग्र कर। चैतन्यसरोवर परम आनंद से भरपूर है; सिद्धभगवंतों ने जो आनंद प्रगट किया है, वह आनंद इस चैतन्यसरोवर में भरा हुआ है; उस चैतन्यसरोवर को छोड़कर बाह्य में दौड़ेगा तो तुझे कहीं सच्ची शांति का जल नहीं मिलेगा। सच्ची शांति के लिये अंतर में अपने चैतन्यसरोवर में डुबकी लगा।

चैतन्यसुख का अनुभव करते ही ज्ञानी को ऐसा लगता है कि अहो! मेरा ऐसा अचिंत्य परम आनंद मुझमें ही होने पर अभी तक अपने सुख को भूलकर मैं दु:खी हुआ था। अहो! अब तो चैतन्यभगवान निजात्मगुणों के वैभव सहित अपने अंतर में स्फुरायमान हुआ है—सम्यग्दर्शन की अपनी अनुभूति में आत्मसंपत्ति ही प्रगट हुई है; मेरी संपत्ति मैंने अपने में देखी है; उसके परम आनंद का अनुभव करता हुआ मैं अब विभाव के विषफल का उपयोग नहीं करता, उसको अपने से भिन्न जानता हूँ।

अहो, ऐसी चैतन्यसंपत्ति! वह धर्मात्मा की अनुभूति का ही विषय है; राग का यह विषय नहीं; राग से पार ऐसी जो निर्विकल्प समाधि, उसमें अपनी चैतन्यसंपत्ति को ध्येय बनाने पर सम्यग्दर्शन तथा परम आनंद प्रगट होता है। पूर्व काल में एक समय भी ऐसी चैतन्यसंपत्ति को मैंने नहीं जाना था; परंतु अब वह चैतन्यसंपत्ति मेरी निर्विकल्प समाधि में प्रगट हुई है, साक्षात् अनुभव में आ गयी है।

अहा, इस चैतन्यसंपत्ति के सामने जगत की किसी भी संपत्ति का मूल्य नहीं है। जिसने अंतर की अनुभूति द्वारा ऐसा चैतन्यसंपत्तिवान आत्मा प्राप्त किया, वही सच्चा लक्ष्मीवान है; जो बाह्य के संयोगों से बड़ाई लेना चाहें, वे तो सब दरिद्र हैं। भगवान! तू दरिद्र नहीं, दीन नहीं, तू तो चैतन्यसंपत्ति से भरपूर भगवान है। सुख की संपत्ति तो तुझमें ही भरी हुई है। ज्ञान को अंतर्मुख करके अपने स्वरूप की समाधि द्वारा उसे जान... तेरा आनंदमय आत्मवैभव तीन लोक में सर्वश्रेष्ठ है, वह तेरी समाधि का विषय है–इसलिये अपने अंतर्मुख उपयोग में ही वह प्राप्त होता है; इसके अतिरिक्त अन्य किसी उपाय से उसकी प्राप्ति नहीं होती। इसलिये अंतर के उपयोग द्वारा सुख–संपत्ति से भरपूर अपने 'चैतन्यधाम' में आनंद से निवास कर।●●

सम्यग्दर्शन के आठ अंग की कथा

सम्यक्तयुत आचार ही संसार में एक सार है,
जिनने किया आचरण उनको नमन सौ-सौ बार है।
उनके गुणों के कथन से गुण ग्रहण करना चाहिये,
अरु पापियों का हाल सुनकर पाप तजना चाहिये॥

(3) निर्विचिकित्सा-अंग में प्रसिद्ध उदायन राजा की कथा

[पहली नि:शंक अंग में प्रसिद्ध अंजनचोर की, दूसरी नि:कांक्ष अंग में प्रसिद्ध सती अनंतमती की कथा आपने पढ़ी; अब तीसरी कथा आप यहाँ पढ़ेंगे।]

सौधर्म-स्वर्ग में देवों की सभा लगी हुई है; इन्द्र महाराज देवों को सम्यग्दर्शन की महिमा समझा रहे हैं। हे देवो! सम्यग्दर्शन में तो आत्मा का कोई अद्भुत सुख है। जिस सुख के समक्ष इस स्वर्गसुख की कोई गिनती नहीं है, इस स्वर्गलोक में मुनिदशा नहीं हो सकती, परंतु सम्यग्दर्शन की आराधना तो यहाँ भी हो सकती है।

मनुष्य तो सम्यक्त्व की आराधना के अतिरिक्त चारित्रदशा भी प्रगट करके मोक्ष प्राप्त कर सकते हैं। जो जीव नि:शंकता, नि:कांक्षा, निर्विचिकित्सा आदि आठ अंगों सहित शुद्ध सम्यग्दर्शन के धारक हैं, वे धन्य हैं। ऐसे सम्यग्दृष्टि जीवों की यहाँ स्वर्ग में भी हम प्रशंसा करते हैं।

वर्तमान में कच्छ देश में उदायन राजा ऐसे सम्यक्त्व से शोभायमान हैं तथा सम्यक्त्व के आठों अंग का पालन कर रहे हैं। जिसमें निर्विचिकित्सा अंग के पालन में वे बहुत दृढ़ हैं। मुनिवरों की सेवा में वे इतने तत्पर हैं कि चाहे जैसा रोग हो तो भी वे रंचमात्र जुगुप्सा नहीं करते तथा ग्लानि रहित परमभक्ति से धर्मात्माओं की सेवा करते हैं। उन्हें धन्य है! वे चरमशरीरी हैं।

राजा के गुणों की ऐसी प्रशंसा सुनकर वासव नाम के एक देव को यह सब प्रत्यक्ष

देखने की इच्छा हुई और वह स्वर्ग से उतरकर मनुष्यलोक में आया।

❀ ❀ ❀

उदायन राजा एक मुनिराज को भक्तिपूर्वक आहारदान के लिये पड़गाहन कर रहे हैं—पधारो... पधारो... पधारो! रानी सहित उदायन राजा नवधाभक्तिपूर्वक मुनिराज को आहारदान देने लगे।

अरे, यह क्या? कई लोग तो वहाँ से दूर भागने लगे, और बहुत से मुँह के आगे कपड़ा लगाने लगे; क्योंकि इन मुनि के काले-कुबड़े शरीर में भयंकर कुष्ठ रोग था और उससे असह्य दुर्गंध निकल रही थी; हाथ-पैर की उंगलियों से पीव निकल रही थी।

—परंतु राजा को इसका कोई लक्ष नहीं था। वह तो प्रसन्नचित्त होकर परम भक्तिपूर्वक एकाग्रता से मुनि को आहारदान दे रहे थे, और अपने को धन्य मान रहे थे—कि अहा! रत्नत्रयधारी मुनिराज का हमारे घर आगमन हुआ! इनकी सेवा से मेरा जीवन सफल हुआ है।

इतने में अचानक मुनि का जी मचलाया और उल्टी हो गई; और वह उल्टी राजा-रानी के शरीर पर गिरी। दुर्गंधित उल्टी गिरने पर भी राजा-रानी को न तो ग्लानि उत्पन्न हुई और न मुनिराज के प्रति रंचमात्र तिरस्कार ही आया; बल्कि अत्यंत सावधानी से वे मुनिराज के दुर्गंधमय शरीर को साफ करने लगे और विचारने लगे कि अरेरे! हमारे आहारदान में जरूर कोई भूल हो गई है जिसके कारण मुनिराज को यह कष्ट हुआ... हम मुनिराज की पूरी सेवा न कर सके....

अभी तो राजा ऐसा विचार कर रहे हैं कि इतने में वे मुनि अचानक अदृश्य हो गये और उनके स्थान पर एक देव दिखायी दिया। अत्यंत प्रशंसापूर्वक उसने कहा : हे राजन्! धन्य है तुम्हारे सम्यक्त्व को तथा धन्य है तुम्हारी निर्विचिकित्सा को! इन्द्र महाराज ने तुम्हारे गुणों की जैसी प्रशंसा की थी, वैसे ही गुण मैंने प्रत्यक्ष देखे हैं। हे राजन्! मुनि के वेश में मैं तुम्हारी परीक्षा करने आया था। धन्य है आपके गुणों को... ऐसा कहकर देव ने नमस्कार किया।

वास्तव में मुनिराज को कोई कष्ट नहीं हुआ—ऐसा जानकर राजा का चित्त प्रसन्न हो गया, और वे बोले : हे देव! यह मनुष्य शरीर तो स्वभाव से ही मलिन है, तथा रागादि का घर है। अचेतन शरीर मैला हो, उससे आत्मा को क्या? धर्मी का आत्मा तो सम्यक्त्वादि पवित्र

गुणों से शोभायमान है। शरीर की मलिनता को देखकर जो धर्मात्मा के गुणों के प्रति अरुचि करता है, उसे आत्मदृष्टि नहीं है तथा देहदृष्टि ही है। अरे, चमड़े के शरीर से ढँका हुआ आत्मा अंदर सम्यग्दर्शन के प्रभाव से शोभायमान है, वह प्रशंसनीय है।

उदायन राजा की ऐसी श्रेष्ठ बात सुनकर देव बहुत प्रसन्न हुआ, और उसने राजा को कई विद्याएँ दीं तथा अनेक वस्त्राभूषण दिये; परंतु राजा को उन सबकी कहाँ इच्छा थी? वे तो समस्त परिग्रह का त्याग करके वर्द्धमान भगवान के समवसरण में गये और मुनिदशा अंगीकार की तथा केवलज्ञान प्रगट करके मोक्ष को प्राप्त हुए। सम्यग्दर्शन के प्रताप से वे सिद्ध हुए... उन्हें मेरा नमस्कार हो!

[यह छोटी सी कथा हमें ऐसा बोध देती है कि धर्मात्मा के शरीरादि को अशुचि देखकर भी उनके धर्म के प्रति ग्लानि मत करो तथा उनके सम्यक्त्वादि पवित्र गुणों का बहुमान करो।]

शीलस्वरूप आत्मा

हमारा आत्मा ज्ञान-दर्शन-चेतनास्वरूप है, ऐसा स्वभाव ही हमारा शील है। अंतर के ऐसे स्वभाव की भावना से शीलरूप होकर जिन्होंने मोक्ष प्राप्त किया है, उन्हें नमस्कार हो।

पंच परमेष्ठी भगवंत शीलस्वरूप हैं। ब्रह्मरूप आत्मा चेतनस्वभाव है, उसकी आराधनारूप शील है, वह मोक्ष का कारण है। आत्मा की ओर उन्मुख हुआ ज्ञान पर-विषयों से विरक्त है, जिससे वह ब्रह्मरूप है—शीलरूप है। ऐसे शीलस्वरूप पंचपरमेष्ठी भगवान उत्तम तथा मंगलरूप हैं। मैं उनकी शरण लेता हूँ—जिससे जन्म-मरण का अंत होकर मुझे जिनपद की प्राप्ति हो।

(अष्टपाहुड़ के प्रवचन से)

मंगल दीपावली-प्रवचन

मोक्ष के लिये योगभक्ति

[महावीर निर्वाण मंगलदिन : वीर सं. २४९८ प्रारंभ : नियमसार, गाथा 138]

आज के दिन महावीरस्वामी मोक्ष को प्राप्त हुए थे। मोक्ष की आराधना कैसे हो? उसकी यह बात है।

भाई, यह तेरी मुक्ति का मर्ग बताया जा रहा है; तेरे सुख की रीति बताई जा रही है। आत्मा के शुद्धस्वरूप में उपयोग लगाने से वीतरागी समरस प्रगट होता है, वही मोक्ष की भक्ति है, वह निश्चय योगभक्ति है, ऐसी भक्ति के द्वारा उत्तम पुरुष मुक्ति को प्राप्त हुए हैं।

आत्मा को कहाँ लगाना? कैसा अनुभव करना? उसकी बात है। अज्ञानी अपने आत्मा को राग में लगाकर राग को ही भजता है, उसके बदले राग से भिन्न जो अति अपूर्व निरुपराग चैतन्यपरिणति है, उसमें आत्मा को एकाग्र करना, उसमें मोह-राग-द्वेषादि समस्त परभावों का अभाव है, विकल्प का अभाव है तथा निर्विकल्प समरस के घोलनरूप रत्नत्रयभाव उसमें वर्तते हैं। ऐसी अति-अपूर्व परिणति में आत्मा का परिणमन, वह मोक्ष के लिये योगभक्ति है—ऐसा इस सूत्र में कहा है।

अहो, कुन्दकुन्दाचार्यदेव आदि संत तो वीतरागी भगवंत थे, उनके द्वारा रचे गये सूत्र भी वीतरागी सूत्र हैं। उसमें कहते हैं कि हे भव्य! मोक्ष के लिये अपने आत्मा को अपनी अति अपूर्व वीतराग चैतन्यपरिणति में लगा; उसमें आनंदमय समरस है, उसमें विकल्प नहीं है, राग नहीं है, दुःख नहीं है, ऐसी निर्विकल्प चैतन्यविलासरूप रत्नत्रय-परिणति में आत्मा को लगाकर अर्थात् आत्मा को उसरूप परिणमित करके महावीर मोक्ष को प्राप्त हुए हैं। इसलिये हे भव्य जीव! हे महाजनो! तुम भी अपने आत्मा को वीतरागी स्वपरिणति में जोड़कर परम वीतराग सुख प्रदान करनेवाली ऐसी योगभक्ति करो।

अहा, आनंदमय शांत चैतन्यधाम! उसमें विकल्प का कोलाहल कैसा? शांति के समुद्र में अशांति कैसी? धर्मी को पर्याय-पर्याय में अपना कारणपरमात्मा अभेद वर्त रहा है। कारणपरमात्मा को स्वयं में अभेद रखकर ही धर्मी का परिणमन वर्त रहा है, अर्थात् उसने स्वयं को राग से पृथक् करके अपनी शुद्ध-निर्विकल्प-आनंदमय-चैतन्यपरिणति में स्थापित किया है—इसका नाम उत्तम योगभक्ति, तथा यही मोक्षमार्ग! ऋषभ से लेकर महावीर तक के सभी तीर्थंकर भगवंत ऐसी योगभक्ति के द्वारा निर्वाण को प्राप्त हुए हैं, अतः तुम भी ऐसी उत्तम योगरूप भक्ति करो।

अहा, वे भगवंत सर्व आत्मप्रदेशों में उत्पन्न आनंदरूपी परम सुधारस के पान से परितृप्त हुए। सम्यग्दर्शन हुआ, तब भी आत्मा सर्वप्रदेशों में आनंदमय परम सुधारस के पान से तृप्त-तृप्त हुआ है, और उसके फल में मोक्ष के अनादि-अनंत आनंदमय अनंत चैतन्यरस में आत्मा परितृप्त हुआ। मोक्ष का मार्ग तो आनंदमय ही है।

धर्मात्मा जानते हैं कि अहा, मेरा परम आनंदमय आत्मा जहाँ मेरे अनुभव में विराजमान है, वहाँ अब केवलज्ञान तथा मोक्षदशा भी मेरे निकट वर्तती है। अनंत काल के भवदुखों का अब अन्त आ गया है। सम्यग्दर्शन होते ही रागरहित चैतन्यशांति का वेदन हुआ है। शुद्ध द्रव्य-गुण का स्वीकार हुआ, वहाँ आत्मा शुद्धपर्यायरूप परिणमित हुआ अर्थात् द्रव्य-गुण-पर्याय तीनों से शुद्धरूप आत्मा परिणमित हुआ है, राग के अन्धकार को दूर करके चैतन्य-दीप का प्रकाश प्रगट हुआ है; यही सच्ची दीपावली है। दीपावली में आत्मा ने स्वयं को परम आनंद की भेंट दी है।

आत्मा का स्वरूप सर्वथा अंतर्मुख है, उसे अपने में अपनी शुद्ध आनंदपरिणति का ही साथ है, अन्य किसी का उसे साथ नहीं है, राग तो बाहर रह जाता है। यह तो संतों के मार्ग का अमृत है। थोड़ा भी अमृत परम आनंद को प्रदान करता है और अनंतकाल के दुःख को मिटाता है। धर्मात्मा को जहाँ अंतर्मुख परिणाम हुए, वहाँ उसकी परिणति में अब निर्मलता ही बहती है, कारणपरमात्मा प्रभु उसकी दशा में विराजमान हैं, अब राग या भव का उसमें स्थान नहीं। भाई! तेरे आत्मा को ऐसे स्वभाव की ओर उत्साहित कर! अरे निजानंद से भरपूर ऐसे स्व-तत्त्व को भूलकर अन्यत्र कहीं भी उल्लास करके एकाग्र हो जाये, वह अंतर्मुख कहाँ से होगा? मुक्ति का मार्ग तो सर्वथा अंतर्मुख ही है।

भाई, मोक्ष के लिये तेरी शुद्धपरिणति ही तुझे अनुकूल है और रागादि प्रतिकूल है; अन्य कोई तुझे अनुकूल या प्रतिकूल नहीं है।

मोक्षमार्ग में तेरी जो अति-अपूर्व शांत परिणति है, वही तेरी सहचारी है, उस परिणति में ही तू कारणपरमात्मा विराजमान है। अहा, मैं कारणपरमात्मा जिसमें विराजमान हूँ, उसमें मोह-राग-द्वेष कैसे रहेंगे? नहीं रह सकते। अपने आत्मा को शुद्धता में परिणमित किया वहाँ अब अशुद्धता है ही नहीं। इसी का नाम मोक्ष के लिये सच्ची योगभक्ति है। ऐसी भक्ति के द्वारा ही तीर्थंकर भगवान निर्वाण के महा आनंद को प्राप्त हुए हैं; अतः तू भी आत्मा को ऐसी योगभक्ति में लगा... तुझे भी महा आनंद सहित मोक्षमार्ग प्रगट होगा।

आत्मा में मोक्षमार्ग के दीपक प्रज्वलित हुए वही सच्ची दीपावली है

मेरा सुंदर तत्त्व

अहो, ऋषभादि से महावीर पर्यंत समस्त जिनवर भगवंत ऐसी परम योगभक्ति के द्वारा ही मुक्ति को प्राप्त हुए हैं। अहा, मोक्ष तो परम आनंद से तृप्त दशा है। परम आनंदमय तत्त्व में जो परिणति ढली, वह स्वयं आनंदरूप तथा भवदुःख से मुक्त हुई। इसलिये हे मोक्षसुख के अभिलाषी भव्यजनों! तुम भी अपनी परिणति को आत्मा में लगाकर ऐसी योगभक्ति करो। यह योगभक्ति तुम्हें परम वीतरागी सुख प्रदान करनेवाली है। अहा, सुंदर आनंदमय मेरा यह तत्त्व परम उत्तम है, उसकी भावना से अपूर्व सुख उत्पन्न होता है। अहा, ऐसा सहज सुखरूप मेरा तत्त्व! उसकी भावना में तत्पर मुझे अब जगत के दूसरे किस पदार्थ की स्पृहा है?

गुरु के सान्निध्य में निर्मल सुखकारी धर्म को प्राप्त करके ज्ञान द्वारा जिसने समस्त मोह की महिमा नष्ट की है, ऐसा मैं अब राग-द्वेष की परम्परारूप परिणत चित्त को छोड़कर, शुद्धध्यान द्वारा शांत-एकाग्र किये हुए समाहित मन से अपने आनंदात्मक तत्त्व में ही स्थिर रहता हूँ—परमब्रह्म परमात्मा में लीन रहता हूँ। (श्री नियमसार प्रवचन से)

आत्मा समीप है

धर्मी को एक भी पर्याय में आत्मा दूर नहीं है

जिसे सुनकर मुमुक्षु को प्रमोद हो, ऐसे 'भावी तीर्थाधिनाथ' का उदाहरण देकर शुद्धदृष्टिवंत जीव का स्वरूप समझाते हुए मुनिराज कहते हैं कि—अहो, भावी तीर्थाधिनाथ को अपने समस्त परिणाम में अपना शुद्ध आत्मा समीप ही वर्तता है; शुद्धात्मा की सन्मुखता से वह अभिराम है—सुंदर है। जहाँ आत्मा की निकटता नहीं है, वहाँ सुंदरता नहीं है-सुख नहीं है। भाई, तुझे सम्यग्दर्शन-ज्ञान-आनंद प्रगट करना हों तो तू भी तीर्थाधिनाथ की भाँति अंतर में आत्मा के समीप जा।

[नियमसार गाथा 127, कलश 212 पर पूज्य श्री कानजीस्वामी के प्रवचन]

अहा, शुद्ध चैतन्यस्वभावी मेरा आत्मा! उसमें मुझे शुद्ध ज्ञान-आनंद का ही परिचय है, उसमें भव का परिचय नहीं है, भव के कारणरूप किन्हीं विभावों के साथ मेरे चेतनस्वभाव का परिचय नहीं है, संबंध नहीं है। मेरी आत्मानुभूति में मेरी शांति और आनंद के अनंतभाव भरे हुए हैं, परंतु रागादि परभाव तो उसमें किंचित् भी नहीं हैं। अंतर में आत्मा के ऐसे स्वभाव का अभ्यास करने से सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र एवं मोक्षरूप परिणमन होता है; परंतु भवरूप परिणमन नहीं होता। अपने सम्यक्त्वादि स्वभावरूप परिणमित होना, यह तो जीव का स्वभाव ही है; उस शुद्ध परिणाम में आत्मा स्वयं समीप है, उसमें रागादि की निकटता नहीं है, रागादि तो उससे दूर हैं और शुद्धस्वभाव उसमें अत्यंत निकट (तन्मय) है।

अरे जीव! शांत होकर अपने स्वतत्त्व को अंतर में देख तो सही, कैसा है तेरा चैतन्यतत्त्व! अपने चैतन्यतत्त्व के अनुभव में तुझे भवरहित चैतन्यसुख दृष्टिगोचर होगा, भव और भव के कारणरूप समस्त विभाव तो चैतन्य से अत्यंत दूर हो गये हैं—पृथक् हो गये हैं।

अहा, जो पर्याय अंतर में चैतन्यस्वभाव के निकट आयी, वह पर्याय राग के निकट क्यों जायेगी ? जिस पर्याय में मोक्षसुख का अनुभव हुआ, उस पर्याय में भवदुःख का परिचय क्यों रहेगा ? धर्मी कहता है कि मेरे आत्मा में भव का परिचय नहीं है; चिदानंदस्वभाव के परिचय में समतारूप सामायिक है अर्थात् मोक्षमार्ग है, शांति का वेदन है।

चैतन्य जिसका चमत्कार है, अनंत चैतन्यभावों से जो गंभीर है, ऐसा मेरा परमतत्त्व स्वानुभूति में प्रकाशित हुआ है, वह जयवंत है; रागादि भावों का परिचय उसमें से छूट गया है।

हे जीव ! चेतना को जागृत करके ऐसा पुरुषार्थ कर कि एक क्षण में चिदानंदस्वभाव में उतर जाये और समस्त परभावों से पृथक् हो जाये। तेरा स्वभाव शुद्धतारूप परिणमित होने का है और उसका यह अवसर है। शुद्धतत्त्व को जानने से शुद्धपरिणमन होता है, वह सामायिक है, उसमें आत्मा की प्राप्ति है। अपनी टंकोत्कीर्ण निज महिमा में लीन ऐसे शुद्धतत्त्व को सम्यग्दृष्टि साक्षात् जानता है। तीर्थंकर-गणधर-मुनिवर-संतों के हृदय में जो सदा स्थित है, ऐसा परम महिमावंत चैतन्यतत्त्व मुझे भी अपनी अनुभूति में गोचर होता है, ऐसा सम्यग्दृष्टि अनुभव करता है। स्वयं अपने को प्रत्यक्ष हो, ऐसा ही मेरा स्वभाव है। ऐसे अपने आत्मा को एक ओर रख देने से कभी कल्याण नहीं हो सकता। अपना महान तत्त्व कैसा है, उसे ज्ञान में अत्यंत समीप लाकर, स्वानुभवगोचर करके अपूर्व कल्याण होता है। आत्मा कोई अगोचर वस्तु नहीं है, सम्यग्दृष्टि के स्वानुभव में वह आनंदसहित गोचर होता है।

धर्मात्मा के सर्व निर्मलभावों में अपना शुद्ध आत्मा ही संनिष्ठ है; स्वपर्याय में आत्मा ही सम्यक्रूप से स्थित है; पर्याय-पर्याय में आत्मा ही उसे समीप वर्तता है। उसकी एक भी पर्याय में आत्मा दूर नहीं है परंतु सर्व पर्यायों में आत्मा समीप ही है। रागादिभाव उससे दूर हैं-भिन्न हैं। अरे जीव ! तेरा आत्मा तुझमें ही अत्यंत निकट है, तथापि उसे दूर समझकर तूने राग से मित्रता की है; परंतु राग तो तेरे स्वभाव से दूर है। चेतन में आत्मा की ही समीपता है और रागादिकभाव दूर हैं; इसलिये अंतरंगदृष्टि द्वारा आत्मा को ही समीप कर। परिणाम को आत्मा में तन्मय करके आनंद का अनुभव कर। ऐसा अनुभव करने पर सर्व परभाव लोप हो जायेंगे और भगवान आत्मा परम आनंदसहित प्रगट होगा।

* 'चेतनावंत' ज्ञानी.... उसकी सच्ची भक्ति *

धर्मात्मा को एक भी पर्याय में आत्मा दूर नहीं है; उसने आत्मा के साथ परिणति की डोरी बाँधी है और राग के साथ संबंध तोड़ दिया है। उसकी चेतना की एक भी पर्याय ऐसी नहीं है कि राग में तन्मय हो, उसकी चेतना राग से सर्वथा भिन्न चैतन्यभावरूप ही वर्तती है।—ऐसी चेतना को पहिचाने—जाने, तब धर्मी को पहिचाना कहा जाता है। जिसप्रकार केवलज्ञानी भगवान की ज्ञानचेतना राग से सर्वथा भिन्न है, उसीप्रकार साधक धर्मात्मा की जो ज्ञानचेतना है, वह भी राग से सर्वथा भिन्न है, परभाव के किसी भी कण को वह अपने में नहीं मिलाती; ऐसी चेतनास्वरूप से अपना स्पष्ट वेदन हो, तब भेदज्ञान हुआ कहा जाता है तथा वह आत्मा ज्ञानचेतनास्वरूप होकर मोक्षमार्गी हुआ कहा जाता है। ज्ञानी की पहिचान राग द्वारा नहीं, परंतु ज्ञानचेतना द्वारा ज्ञानी की पहिचान होती है। ऐसी पहिचान करे, तब ज्ञानी को सच्ची पहिचान और सम्यग्दर्शनादि होते हैं।

* शांतरस के कुण्ड में स्नान करने से भवरोग का नाश होता है *

आत्मा अपने परमानंदरूपी अद्वितीय अमृत से भरपूर है। ऐसे आत्मा को आनंदभक्ति से परिपूर्ण परम शांतरसरूपी जल द्वारा स्नान कराओ! अन्य कल्पना-जाल का क्या काम है?

अहा, मेरे भगवान ने जैसे आत्मा का अनुभव करके प्रगट किया, वैसा ही आत्मा मैं हूँ—इसप्रकार अंतर में स्वसन्मुख अनुभूति के आनंदमय फव्वारे से आत्मा को स्नान कराओ, आत्मा को प्रशमरस में डुबाओ। आत्मा चैतन्यसमुद्र है, वह स्वयं अपने में ही मग्न होकर अपने शांत चैतन्यरस का पान करता है; जिसप्रकार शारीरिक रोग को दूर करने के लिये लोग राजगृही आदि के गरम पानी के कुण्डों में स्नान करते हैं, उसीप्रकार हे जीव! आत्मा के कषायादि भवरोग को मिटाने के लिये तू अपने अंतर में भरे हुए परम शांत चैतन्यकुण्ड में स्नान कर... तेरे सब रोग दूर हो जायेंगे।

धर्मात्मा जानता है कि मैं अपनी निर्मल पर्याय के समीप जा रहा हूँ... राग से दूर होता हुआ अपनी चेतना परिणति में एकाग्र होता हूँ।

श्रीगुरु का उपदेश भी यही है कि—अपने परिणाम में तू अपने चैतन्यस्वभावी आत्मा को ही मुख्य रख; उसी को समीप रख और उसके अतिरिक्त अन्य सबको दूर कर दे। अपने में

शुद्ध आत्मतत्त्व की आनंदमय अनुभूति हुई, वही परम गुरुओं का प्रसाद है। अहो, परम गुरुओं ने प्रसन्न होकर हमें ऐसे शुद्धात्मा का प्रसाद दिया... उसके अनुग्रह द्वारा हमें जो शुद्धात्मतत्त्व का उपदेश मिला, उससे हमें स्वसंवेदनरूप आत्मवैभव प्रगट हुआ।

* भावी तीर्थाधिनाथ का उदाहरण देकर समझाते हैं *

अहा, जो भावी तीर्थाधिनाथ हैं, भवभय को हरनेवाले हैं और रागरहित होने से अभिराम हैं—सुंदर हैं, ऐसे शुद्धदृष्टिवंत भावी तीर्थाधिनाथ को अपने समस्त स्वसन्मुख परिणाम में अपना शुद्ध आत्मा ही ऊर्ध्व है, वही मुख्य है, वही समीप है, इसलिये उन्हें सहज समता साक्षात् वर्तती है। भावी तीर्थनायक के उत्कृष्ट उदाहरण द्वारा सर्व सम्यग्दृष्टि जीवों की शुद्धदृष्टि में कैसा शुद्धात्मा वर्तता है, वह समझाया है। धर्मात्मा को समस्त परिणमन से अपना निरंजन कारणपरमात्मा ही सदा निकट है। परमगुरु के प्रसाद से ऐसे कारणपरमात्मा को स्वयं प्राप्त किया है—अनुभव में लिया है। श्रीगुरु के उपदेश में जैसा शुद्ध आत्मस्वरूप बतलाया, वैसा समझकर स्वयं प्रगट किया अर्थात् निर्मल पर्याय प्रगट करके उसमें स्वयं स्थित हुआ, रागादि समस्त परभावों से पृथक् हुआ, दूर हुआ। इसप्रकार भावी जिन-भगवंत निजस्वभाव के समीप और परभावों से पराङ्मुख हुए, उन्हें सदा वीतरागी समताभावरूप स्थिर सामायिक है; सामायिकभावरूप अपनी निर्मल दशा में वह आत्मा सदा स्थिर रहता है; इसलिये भगवान के शासन में उस आत्मा की ही सामायिक कही है।

जहाँ अपना शुद्धात्मा समीप नहीं है, शुद्धात्मा जिसकी दृष्टि में नहीं आया है, वह आत्मा को दूर रखकर आत्मा को भूलकर चाहे जो करे, परंतु उसे शुद्धता नहीं होती, सामायिक नहीं होती, चारित्र नहीं होता, श्रद्धा-ज्ञान भी नहीं होते;—एक भी धर्म उसे नहीं होता। आत्मा को अपना स्वज्ञेय बनाये बिना सब व्यर्थ है, उसके बिना बाह्य जानकारी या शुभ आचरण, वे कोई शांति प्रदान नहीं करेंगे। शांति देनेवाला अपना आत्मा है, उसके निकट तो वह जाता नहीं है तो उसे शांति कहाँ से मिलेगी ?

व्यवहार के परिणाम के समय भी धर्मी को उसमें निकटता-तन्मयता नहीं है, उस समय उसकी चेतना तो उस व्यवहार के राग से दूर ही वर्तती है और अपने शुद्ध परमतत्त्व के समीप ही वर्तती है। धर्मी की चेतना में अपना स्वभाव ही समीप है और राग दूर है—पृथक् है।

जिसे चैतन्य की निकटता हुई है—शुद्ध परिणति में भगवान आत्मा अनुभव में आया है—ऐसे शुद्धदृष्टिवंत जीव को ही व्यवहार संयमादि सच्चे होते हैं। शुद्ध आत्मा जिसकी दृष्टि में नहीं वर्तता और मात्र राग ही जिसकी परिणति में तन्मय वर्तता है—ऐसे अज्ञानी को तो व्यवहार भी सच्चा नहीं होता। उसे जो अपना आत्मा दूर है, अर्थात् अनुभूति में नहीं आता।

* मेरा आत्मा मुझे दूर नहीं है *

अरे, मैं स्वयं चैतन्यप्रभु.... मैं अपने से दूर क्यों होऊँगा? आत्मा स्वयं अपने समीप ही है, स्वयं अपने स्वभाव में ही सत् है।—ऐसे आत्मा में जिसके परिणाम तन्मय हैं, उसी को धर्म है; जिसके परिणाम अपने आत्मा में तन्मय नहीं हैं अर्थात् जो आत्मा राग से भिन्न चेतनारूप परिणमित नहीं हुआ है और रागादि परभाव में तन्मयभाव से वर्तता है, उसे धर्म नहीं है, शांति नहीं है, सामायिक नहीं है। धर्मी तो कहता है कि मेरी पर्याय-पर्याय में मेरे चैतन्यप्रभु का अमृत बरस रहा है, चैतन्यरस के समुद्र में ही मेरी सब पर्यायें मग्न हैं, मेरी कोई पर्याय राग में तन्मय नहीं है। मेरा आत्मा राग से भिन्न चेतनाभावरूप ही परिणमित हो रहा है।—इसप्रकार जिसने चैतन्यप्रभु को समीप रखा और जो स्वयं चैतन्यप्रभु के समीप गई, उस पर्याय में राग रह नहीं सकता, वह पर्याय राग से पृथक् हो गई; इसलिये वीतरागभाव से वह सुंदर सुशोभित हुई। ऐसी शुद्ध आत्मदृष्टिवाले जीव अभिराम हैं—सुंदर हैं—मनोहर हैं। अहा, तीर्थंकर होनेवाले आत्मा ऐसी शुद्धात्मदृष्टि द्वारा मनोहर हैं, भवभय को हरनेवाले हैं।

जहाँ आत्मा की समीपता है, आत्मा में एकाग्रता है, वहीं सच्ची सामायिक है। जहाँ आत्मा नहीं है, वहाँ सामायिक कैसी? जिस परिणाम में अपने शुद्ध आत्मा की अनुभूति नहीं है उसमें सामायिक कैसी? उसमें वीतरागता कैसी? उसमें सुख कैसा? उसमें धर्म कैसा? धर्मी को अपनी समस्त पर्यायों में, ज्ञान में-श्रद्धा में-चारित्र में-आनंद में सदा अपने शुद्ध आत्मा प्रत्यक्ष वर्तता है, एक समय भी वह वह दूर नहीं है।

* धन्य! भावी तीर्थाधिनाथ! *

जिसमें शुद्ध आत्मा समीप है, ऐसी सामायिक के वर्णन में भावी तीर्थाधिनाथ को याद करके मुनिराज कहते हैं कि अहो, तीर्थंकरों को उस भव में दर्शन और चारित्र दोनों अप्रतिहत होते हैं; ऐसे भावी तीर्थंकर को तथा उन जैसे शुद्धदृष्टिवंत सर्व जीवों को ज्ञान में-श्रद्धा में-

चारित्र में–आनंद में इसप्रकार सर्व भावों में अपना शुद्ध आत्मा ही समीप है, वही शुद्ध परिणाम में तन्मय वर्तता है। आत्मा स्वयं अपने निर्मल परिणाम में तन्मय–एकाकार वर्तता है, इसलिये वही समीप है, और रागादिभावों में आत्मा तन्मय नहीं वर्तता, इसलिये रागादि से वह दूर है, भिन्न है।

धर्मात्मा को आत्मा की निकटता एक क्षण भी नहीं छूटती... और जहाँ आत्मा समीप है अर्थात् आत्माभिमुखभाव है, वहाँ समता ही है, वीतरागता ही है। ऐसा वीतरागी कार्य, वही नियमसार है, वही मोक्ष का मार्ग है। किसकी समीपता में आनंद होता है ?—तो कहते हैं कि आत्मा स्वयं सहज आनंदस्वरूप है, इसलिये अंतर्मुख होकर आत्मा की समीपता में ही आनंद का वेदन होता है।

हे जीव! सम्यग्दर्शन पर्याय प्रगट करना हो तो आत्मा के समीप जा; सम्यग्ज्ञान पर्याय प्रगट करना हो तो आत्मा के समीप जा; आनंदपर्याय प्रगट करना हो तो आत्मा के समीप जा। परम समभावरूप सामायिक करना हो तो आत्मा के समीप जा। भावी तीर्थाधिनाथ एवं सर्व शुद्धदृष्टिवंत जीव इसप्रकार आत्मा के समीप जाकर, आत्मा को मुख्य रखकर, उसमें एकाग्रता द्वारा श्रद्धा–ज्ञान–चारित्र और सामायिक प्रगट करते हैं।

अहा, ऐसी शुद्धदृष्टिवान यह भावी तीर्थाधिनाथ शुद्धद्रव्य में अभेद पर्याय द्वारा अभिराम हैं, सुशोभित हैं, शुद्धद्रव्य में अभेद परिणति द्वारा राग का अभाव हुआ है, इसलिये वे वीतरागरूप से सुशोभित हैं—सुंदर हैं—मनोहर हैं—अभिराम हैं और भव के भय को हरनेवाले हैं। अरे, भगवान आत्मा जहाँ अनुभूति में निकट विराजमान हो, वहाँ भवदुःख कैसे ? और भय कैसा ? भगवान आत्मा तो भव के भय को हरनेवाला है।

मैं तो चेतनामय आत्मा हूँ—ऐसी शुद्धदृष्टि धर्मी को कभी छूटती नहीं है। प्रत्येक कार्य के समय, प्रत्येक परिणाम के समय आत्मा की ही ऊर्ध्वता रहती है, आत्मा ही मुख्य रहता है; रागादि से आत्मा ऊर्ध्व रहता है, भिन्न रहता है। ऐसी दृष्टि से शुद्धदृष्टिवंत जीव शोभायमान है। अहा! ऐसी शुद्धदृष्टिवंत जीव, वह तो भविष्य का भगवान है; भावी तीर्थाधिनाथ अप्रतिहतभाव से आत्मा को समीप ही रखकर सामायिक द्वारा मोक्ष को साधता है। प्राकृतिक आत्मा आनंदमय है, उसकी समीपता होने से आनंद का वेदन करता–करता वह आत्मा मोक्ष में जाता

है। किसी धर्मात्मा को अपने धर्मपरिणाम में आत्मा दूर नहीं होता। जितने धर्मपरिणाम हैं, उन सब परिणामों में आत्मा स्वयं तन्मय वर्तता है, आत्मा स्वयं उस स्वरूप है। सम्यग्दर्शन में, ज्ञान में, आनंद में सर्व परिणाम में संपूर्ण आत्मा वर्तता है, दूर नहीं रहता, पृथक् नहीं रहता। प्रत्येक पर्याय में धर्मी को समतारस का संपूर्ण चैतन्यपिण्ड प्रत्यक्ष वर्तता है।—ऐसे धर्मात्मा के भाव में सदा सामायिक है।

धर्मात्मा की ज्ञानदशा में सहज परमानंदरूपी अमृत की बाढ़ आयी है... संपूर्ण ज्ञानानंदस्वभावी आत्मा स्वयं परम आनंदरूप से उल्लसित हुआ है; उसमें अब राग-द्वेष कैसे? अशांति कैसी? ...आत्मा के निकट जाकर महा आनंद के वेदन में जो पर्याय निमग्न हुई, उसमें अब राग-द्वेषादि विकृति नहीं होती, वह तो परम शांत है; ऐसे भाव का नाम सामायिक है और वही परमानंद का पंथ है, वह स्वयं आनंदरूप है, मोक्ष के परम आनंद को साधता है।

विकल्प ज्ञान के स्वभाव में हैं ही नहीं, ज्ञान के स्वभाव में आनंद का पूर है, समभाव है, परंतु उसमें राग-द्वेषादि विकृति नहीं है। आत्मस्वभाव के अनंत भावों का समरस ज्ञान में समा जाता है; ऐसा समरसी आत्मा है, उसके अनुभव द्वारा सामायिक प्रगट होती है। पर्याय अंतर्मुख होकर आत्मा के शुद्धचैतन्यरस के पान में तत्पर है, निर्विकल्पता से चैतन्य का आनंदरस पीने में ही वह तल्लीन है; अन्य किसी परभाव में वह पर्याय अब नहीं लगती। परम वीतरागी सुख के अमृत का स्वाद जिसने चखा, वह विकार का विषैला स्वाद लेने क्यों जायेगा? अंतर्मुख ज्ञान का स्वाद और विकल्प का स्वाद—इन दोनों के बीच अमृत और विष जितना अंतर है। ज्ञान का स्वाद तो परम शांतरसमय है और विकल्प का स्वाद आकुल-अशांत है। धर्मी जीव ज्ञान द्वारा आत्मा के आनंद का रसपान करता है, वह तीर्थंकरों का अनुयायी है। तीर्थाधिनाथ का जो सुंदर मार्ग-उसमें वह चल रहा है, सुशोभित हो रहा है।

धन्य हैं तीर्थाधिनाथ और उनका सुंदर मार्ग!

स्व. कविवर दीपचंदजी शाह कृत

ज्ञान-दर्पण

[गतांक से आगे]

वेदत स्वरूप पद परम अनूप लहै, गहै चिद्भाव महा आप निज थान है।
द्रव्य कौ प्रभाव अरु गुण कौ लखाव जामैं, परजाय को उपावै ऐसा गुणवान है॥
व्यय उत्पाद ध्रुव सधै सब जाहीकरि, ताहितैं उद्योत लक्ष्यलक्षण को ज्ञान है।
महिमा महत जाकी कहाँलौं कहत कवि, स्वसंवेदभाव 'दीप' सुख को निधान है॥15॥

चिदानंदराइ सुखसिंधु है अनादि ही कौ, निहचै निहारी ज्ञानदिष्टि धरि लीजिये।
नय विवहारहीतैं करम कलंक पंक, जाके लागि आये तौऊ सुद्धता गहीजिये॥
जैसी दिष्टि देखैं सब ताकौ तैसो फल होइ, सुध अवलोकै सुध उपयोगी हूजियै।
'दीप' कहै देखियतु आतमस्वभाव ऐसौ, सिद्ध के समान ज्ञानभावना करीजियै॥16॥

मेटत विरोध दोउ नयन को पछितात (!), महानिकलंक स्यातपद अंकधारणी।
ऐसी निजवाणी के रमैया समैसार पावै, ज्ञानज्योति लखैं करैं करमनिवारणी॥
सिद्ध है अनादि यह किसी से न जाइइ खंड्यौ, अलख अखंड रीति जाकी सुखकारणी।
लहिकैं स्वभाव जाकौं रहिहैं सुधिर जेही, तेही जीव 'दीप' लहैं दशा भवतारणी॥17॥

मानि परपद आपी भूले ए अनादिही के, ऐसे जगवासी जिनरूप न संभारैं हैं।
घट ही मैं शाश्वतो निरंजन जो देव बसै, ताकौं नहीं देखैं तातैं हित कौं निवारैं हैं॥
ज्योति निजरूप की न जागी कहुं हिये मांहिं, यातैं सुखसागर स्वभावकौं विसारै हैं।
देशना जिनेन्द्र 'दीप' पाय जब आपा लखैं, होइ परमातमा अनंत सुख धारैं है॥18॥

सहज आनंद पाइ रह्यो निज मैं लौ लाई, दौरि दौरि ज्ञेय मैं धुकाइ क्यौं परतु है।
उपयोग चंचल के कीये ही असुद्धता है, चंचलता मेटैं चिदानंद उधरतु है॥
अलख अखंड ज्योति भगवान दीसतु है, नैयकतैं देखि ज्ाननैन उघरतु है।
सिद्ध परमातमा सौं निजरूप आतमा है, आप अवलोकि 'दीप' सुद्धता करतु है॥19॥

अचल अखंड ज्ञानज्योति है स्वरूप जाकौ, चेतना निधान जो अनंतगुण धारी है।
उपयोग आतमीक अतुल अबाधित है, देखिये अनादि सिद्ध निहचै निहारी है॥
आनंद सहित कृतकृत्यता उद्योत होइ, जाहि समय ब्रह्मदृष्टि देत जो संभारी है।
महिमा अपार सुखसिंधु ऐसो घट ही मैं, देव भगवान लखि 'दीप' सुखकारी है॥20॥

पर परिणाम त्यागि तत्त्व की संभार करै, हरै भ्रमभाव ज्ञानगुण के धरैया हैं।
लखै आपा आप माहिं रागदोष भाव नाहिं, शुद्ध उपयोग एक भाव के करैया हैं॥
स्थिरता स्वरूप ही की स्वसंवेदभावन मैं, परम अतीन्द्रि सुख नीर के ढरैया हैं।
देव भगवान सौ स्वरूप लखै घट ही मैं, ऐसे ज्ञानघान भवसिंधु के तरैया हैं॥21॥

लोकालोक लखिकैं स्वरूप मैं सुस्थिर रहैं, विमल अखंड ज्ञानज्योति परकासी है।
निराकाररूप शुद्धभाव के धरैया महा, सिद्ध भगवान एक सदा सुखरासी हैं॥
ऐसो निजरूप अवलोकत हैं निश्चय में, आप परतीति पाय जग सौ उदासी हैं।
अनाकुल आतम अनूप रस वेदतु हैं, अनुभवी जीव आप सुख के विलासी हैं॥22॥

करम अनादि जोग जातैं निज जान्यो नाहिं, मानि परमाहिं आपौं भव में बहतु हैं।
गुरु उपदेश समय पाय जो लखावै जीव, आप पद जानै भ्रमभाव को दहतु हैं॥
देवन को देव सो तो सेवन अनादि आयौ, निजदेव सेये बिनु शिव न लहतु है।
आपपद पायबेकौं श्रुत सौ बखान्यौ जिन, तातैं आत्मिक ज्ञान सबमैं महतु है॥23॥

इसका नाम ज्ञान...

त्रैकालिक स्वभाव और राग की संधि को तोड़नेवाला ज्ञान अति सूक्ष्म है, शुभाशुभराग की स्थूलता से दूर है, वह ज्ञान अपनी उग्रशक्ति से अत्यंत तीक्ष्ण प्रहार करके सभी विभावों को छेदकर ज्ञानस्वभाव में प्रवेश करता है; ज्ञान में तन्मय होकर वह स्वयं परमानंदरूप बन जाता है। इसका नाम ज्ञान और पुरुषार्थ है।

जब राजपुत्र प्रथम बार ही बोले, —क्या बोले ?

भरत चक्रवर्ती चिंता में हैं... अनेक रानियाँ चिंता में हैं; क्योंकि उनके अनेक राजकुमार कुछ बोलते नहीं हैं। जन्म से अब तक गूँगे ही हैं; वर्षों बीत जाने पर भी अभी तक एक भी शब्द उनके मुख से निकला नहीं। राजकुमार मुख से कुछ बोलें, इसके लिए अनेक युक्ति-उपाय किये गये परंतु वे न बोले, सो नहीं ही बोले! अरे, चक्रवर्ती के रूपवान राजकुमार क्या जीवन भर गूँगे ही रहेंगे? क्या वह बोलेंगे नहीं?—ऐसी चिंता में भरत चक्रवर्ती परेशान थे।

इसी बीच में भगवान ऋषभदेव अयोध्यापुरी में पधारे... भरत महाराजा उनके दर्शन करने गये... साथ में इन गूँगे राजकुमारों को भी ले गये। (समवसरण में तीर्थंकर का ऐसा अतिशय होता है कि वहाँ गूँगा भी बोलने लगता है, अन्धा भी देखने लगता है।) राजा ने भगवान के दर्शन किये, राजकुमारों ने भी भक्तिभाव से अपने दादा के दर्शन किये—परंतु अभी तक उनमें से कोई भी बोला नहीं।

अंत में भरत चक्रवर्ती ने पूछा—हे प्रभो! महा पुण्यशाली यह राजकुमार कुछ बोलते क्यों नहीं? क्या ये गूँगे हैं? तब भगवान की वाणी में आया—हे भरत! यह कुमार गूँगे नहीं हैं; जन्म से ही वैराग्यचित्त के कारण वे कुछ बोलते नहीं थे। परंतु वे अवश्य अभी बोलेंगे।

पुत्र गूँगे नहीं हैं—यह जानकर भरत को प्रसन्नता हुई... अब वे राजकुमार क्या बोलेंगे.... यह जानने को सभी उत्सुक थे। इतने में वे वैरागी राजकुमार एकसाथ परम विनयपूर्वक हाथ जोड़कर बोले-मानों उनके अंतर में से मधुर झनकार छूटी.... 'हे प्रभो! हमें मोक्ष की कारणरूप मुनिदीक्षा प्रदान कीजिये! हमारा चित्त इस संसार से उदास है; इस संसार में और परभाव में हमें जरा भी चैन नहीं है, हम अपने निजस्वभाव के मोक्षसुख का अनुभव करना चाहते हैं—इसलिये हमें रत्नत्रयरूप मुनिदीक्षा दीजिये, जिससे हम केवलज्ञान प्रगट करके इस भवबंधन से छूटें'—जीवन में प्रथमबार ही राजकुमार बोले... और इतना उत्तम बोले!

वाह! भरत चक्रवर्ती और सभाजन तो राजकुमारों के शब्द सुनकर स्तब्ध ही रह गये, लाखों-करोड़ों देवों-मनुष्यों ने उनकी प्रशंसा की... तिर्यंचों की सभा भी आश्चर्य से इन वैरागी

राजकुमारों को देखने लगी। राजकुमार तो अपने वैराग्यभाव में मग्न हैं। प्रभु-सन्मुख आज्ञा लेकर मुनि हो गए... वचन-विकल्प छोड़कर निजानंद में लीन होकर वचनातीत आनंद का अनुभव करने लगे... अल्पकाल में केवलज्ञान प्रगट करके उनने सिद्धपद प्राप्त किया।

[इन राजकुमारों का जीवन हमें यह बोध देता है कि हे जीव! उतने ही वचन बोल, जितने तेरे आत्महित में प्रयोजनवान हों.... निष्प्रयोजन कोलाहल में मत पड़।]

आनन्द की जन्मभूमि

मोक्ष का मार्ग शुद्ध रत्नत्रय है और वह स्वद्रव्य के आश्रित है। स्वद्रव्य आनंद का जन्मधाम है... उसमें दृष्टि करते ही शांतिरूप आनंदपर्याय का जन्म होता है। जिसको स्वद्रव्याश्रित सम्यग्दर्शन हुआ है, उसे निमित्तरूप वीतराग सर्वज्ञदेव की परमभक्ति सहज ही होती है। रे जीव! इस भवभय का भेदन करनेवाले भगवान के प्रति क्या तुझे भक्ति नहीं है? यदि नहीं है तो तू भव-समुद्र के बीच में मगरमच्छ के मुख में पड़ा है—वीतराग सर्वज्ञदेव की परमभक्ति और उनके द्वारा कहे हुए अंतर्मुख वीतरागमार्ग की उपासना, वही भवसमुद्र को पार करने का कारण है। अतः हे भव्य! भगवान के कहे हुए मार्ग को पहचानकर भक्तिपूर्वक उसका सेवन कर... जिससे तेरे भव का नाश हो और तुझे मोक्षसुख प्राप्त हो।

अंतर्मुख होकर जिसने अपने अतीन्द्रिय आनंद का अनुभव किया है, ऐसा धर्मी जीव जानता है कि अहो! मेरा जो अतीन्द्रिय आनंद, उसका जन्मधाम मेरा आत्मा है। मेरा सहज आत्मतत्त्व स्वयं ही आनंद की उत्पत्ति का स्थान है।

अंतर में ऐसे आनंदधाम आत्मा की श्रद्धा से सम्यग्दर्शन हुआ है। धर्मी ने अंतर में जब ऐसा अपना आनंद देखा, इसलिये उसके अतिरिक्त किसी अन्य की उसे अभिलाषा नहीं होती। निज परमात्मा के समसुख का ही वह अभिलाषी होता है; उसका स्वाद चख लिया है, इसलिये अंतर में 'आनंदपुत्र' का अवतार हुआ है। जैसे समुद्र स्वयं अपने में ही डोलता है, वैसे ही धर्मी स्वयं अपने आनंद समुद्र में डोलता है अर्थात् आनन्द का अनुभव करता है। सम्यक्त्व के साथ ही ऐसा आनंद होता है। इसप्रकार 'सम्यक्त्व' और 'आनंद' दोनों सदा साथ ही रहते हैं।

सर्वज्ञ कथित वस्तुस्वरूप

सूक्ष्मता से यथार्थ वस्तुस्वरूप समझने पर अपनी पर्याय के लिये पर-सन्मुख देखने की आवश्यकता नहीं रहती और पर से भिन्न स्वद्रव्य की सन्मुखता होती है। आत्मभूत सत्लक्षण के ज्ञान द्वारा पराश्रय की श्रद्धा छूटकर निर्मल भेदज्ञान और मोक्षमार्ग प्रगट होता है। धर्म का मूल सर्वज्ञ है; सर्वज्ञदेव कथित भेदज्ञान द्वारा वीतरागधर्म की प्राप्ति होती है।

—००—

नित्य-अनित्यस्वरूप जो सत् वस्तु; उसका अस्तित्व अपने से है, पर से नहीं है, फिर भी सब द्रव्यों में अस्तित्व-सत्तागुण की अपेक्षा संग्रहनय से देखने पर महासत्ता एक है, उसमें सबका स्वरूप-अस्तित्व सदा पृथक्-पृथक् ही है। महासत्ता एक का प्रतिपक्ष-अवांतरसत्ता अनेक है। प्रत्येक वस्तु में स्वद्रव्य-स्वक्षेत्र-स्वकाल और स्वभाव से स्वरूप-अस्तित्व है। जो वस्तु द्रव्य-गुण की अपेक्षा नित्य है, वही वस्तु उसी समय पार्यायार्थिकनय से उत्पाद-व्ययरूप पर्याय की अपेक्षा अनित्य है।

पर्याय के कारण से पर्याय है, ध्रुव के कारण ध्रुव है। यह है तो दूसरे का अस्तित्व है, ऐसा नहीं है। प्रत्येक चेतन द्रव्य के चतुष्टय अरूपी ज्ञानमय होने से उसकी उत्पाद-व्ययरूप पर्यायें (गुण की क्रिया) सदा अरूपी ही हैं, अतीन्द्रिय-ग्राह्य हैं, उसके प्रतिपक्ष में पुद्गलद्रव्यों के द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावरूप चतुष्टय सदा रूपी ही होने से उसकी उत्पाद-व्ययरूप पर्यायें (स्पर्श-रस-गंध-वर्णादि गुणों की क्रिया) सदा रूपी ही हैं; सूक्ष्म पुद्गलपरमाणु और सूक्ष्म स्कंध रूपी होने पर भी इन्द्रिय द्वारा ग्राह्य नहीं है। परमाणु अपनी स्व-शक्ति से रंग या स्पर्शादि की नयी-नयी पर्याय की उत्पत्तिपूर्वक पूर्वपर्याय का व्ययरूपी निजकार्य निरंतर अपने से करता है; स्वरूप-अस्तित्व तीनों काल प्रत्येक जीव-अजीव को स्वतंत्र सत्तारूप बतलाता है।

प्रत्येक जीव-अजीव अपने से ही अपने द्रव्य-गुण-पर्याय में एक-अनेक, नित्य-

अनित्यात्मक है। ऐसा होना पर के कारण से नहीं, पूर्व पर्याय के कारण नहीं, कोई संयोगरूप निमित्त के कारण से नहीं, अपने उपादान (निजशक्ति) का कार्य ऐसा है। आत्मा का ज्ञानगुण भी नित्य और परिणामी है; इसलिये निरंतर ज्ञान की पर्याय ज्ञान से है, श्रद्धा की पर्याय श्रद्धा से है, सुख की पर्याय अपनी ही योग्यता के अनुरूप सुख द्वारा है; पर के अस्तित्व द्वारा है, ऐसा नहीं है।

सब कथनों में सार प्रयोजनभूत तो पर से भिन्न और अपने ज्ञानानंदमय चैतन्यस्वरूप से अभिन्न आत्मा है, उसे पहचानकर पर में कर्तृत्व-ममत्व माननेरूप मिथ्याश्रद्धा छोड़ना चाहिये। प्रत्येक वस्तु स्वतंत्र सत् स्व से है, पर से नहीं है—ऐसा स्पष्ट भावभासनरूप अनुभव करे तो अपूर्वदृष्टि अर्थात् सम्यग्दर्शन होता ही है।

भगवान आत्मा शुद्ध चैतन्यप्रभु अपनी प्रभुता से पूर्ण है; इसप्रकार अंतर्दृष्टि होने पर ज्ञानपर्याय सम्यक् हुई, यह नियम है; किंतु सम्यग्दर्शन पर्याय प्रगट हुई, इसलिये सम्यग्ज्ञान पर्याय प्रगट हुई, ऐसा नहीं है। एकसाथ आत्मा में अनंत गुणों की अनंत पर्यायें उत्पाद-व्ययरूप से परिवर्तन क्रिया करती हैं।

सब अपनी भूमिका के अनुसार अपनी-अपनी योग्यता से है, पर के कारण से नहीं—ऐसा प्रथम स्वीकार करे तो निमित्त का ज्ञान कराने के लिये निमित्त की मुख्यता से कथन उचित है। कभी भी निमित्त की मुख्यता से कार्य नहीं होता, ऐसा नियम है। पर द्वारा यह कार्य हुआ, ऐसा कथन उपचार-व्यवहारनय का है, परमार्थ नहीं है; और जो जीव व्यवहारकथन को निश्चयकथन मान ले तो वह स्वतंत्र सत् का नाश करनेवाला मिथ्यादृष्टि है।

यह तो तत्त्व की बात है। सत् स्वतंत्र है; किसी के कार्य में किसी अन्य की सहायता नहीं है। अनंत आत्माओं की जो पर्यायें हैं, उन्हें संग्रहनय द्वारा महासत्ता कहा, उनके प्रतिपक्ष में उसी समय एक आत्मा का स्वरूप-अस्तित्व है, यह अवान्तरसत्ता है, जो अपने रूप से है, किंतु पर से है, ऐसा नहीं है।

भगवान ने अपने रागरहित ज्ञान में शब्द-अर्थ और ज्ञानरूप सत्ता को स्पष्ट जाना है। प्रत्येक सत् का अस्तित्व अपने से है, पर से नहीं है। केवलज्ञान के कारण दिव्यवाणी है, ऐसा नहीं, प्रत्येक वस्तु के कार्यकाल में अपनी शक्ति से ही उत्पाद-व्यय-ध्रुवत्व है, अन्य तो निमित्तमात्र हैं, ऐसा समझे बिना और स्वसन्मुख दृष्टि किये बिना उनके माने हुए व्रत-तप-जप, दया, दान के भाव व्यवहार साधन भी कहलाने योग्य नहीं हैं। ज्ञान का विकास हो, उतना

क्षयोपशम होता है, किंतु ज्ञानावरणीय कर्म का क्षयोपशम हो, तब ज्ञान की पर्याय होती है—ऐसी पराधीनता नहीं है। जड़कर्म में कुछ हुआ, इसलिये ज्ञान में हीनाधिकता है—ऐसा अर्थ नहीं है। जहाँ निमित्त से कथन किया हो, वहाँ उपादान वस्तु की योग्यता कैसी है, वह बतलाना है।

काशी में जाकर यह बड़ा पंडित हुआ, इसका अर्थ ऐसा नहीं है कि काशीक्षेत्र से ज्ञान हुआ। ज्ञान, ज्ञान से हुआ है। पूर्व पर्याय से, जड़कर्म से, राग से, वाणी से या गुरु से ज्ञान नहीं होता। निमित्त तो निमित्तमात्र है, दूर ही है। एक द्रव्य में दूसरे का प्रवेश नहीं है। प्रथम ही स्व-आश्रय से निर्णय करना चाहिये, अपने को देखना चाहिये, अन्यथा सुख-संतोष नहीं होगा।

ऐसा नहीं है कि शिक्षक बड़ा विद्वान था, इसलिये शिष्य को ज्ञान हुआ। पर से कुछ नहीं आया; वाणी की दशा पुद्गलपरमाणु से हुई; ज्ञान की अवस्था अपनी योग्यता से ज्ञान के कारण हुई है। अपना आत्मा नित्य चिदानंद भगवान है, अंदर उत्पाद-व्यय उत्पाद-व्यय से है; ध्रुवसत्ता ध्रुवत्व से है; ऐसा नहीं है कि उसके स्वरूपअस्तित्व से दूसरी पर्याय है। यहाँ लक्षणदृष्टि से सूक्ष्म तत्त्वज्ञान का कथन है। सूक्ष्मता से वस्तुतत्त्व समझने से भावभासनरूप स्पष्ट ज्ञान (पक्का ज्ञान) होता है।

प्रश्नः—यदि ऐसा माना जाये कि-विकार जीव ने किया, तो स्व से सत् मानने के कारण विकार जीव का स्वभाव हो जाता है। इसलिए इस दोष के भय से रागादि विकार जड़कर्म आदि पर के कारण माना जाये तो ?

उत्तरः—नहीं, विकारी अशुद्धदशा भी अनित्य पर्यायस्वभाव है, जीव का स्वतत्त्व है, अशुद्ध निश्चयनय से जीव उसका कर्ता है। पंचास्तिकाय गाथा 62 में कहा है कि अशुद्धत्व में भी कर्ता-कर्म-करण-संप्रदान-अपादान-अधिकरण, यह छहों कारक स्वतंत्र हैं। अपनी पर्याय में चारित्रगुण की अशुद्ध उपादानरूप रागपर्याय स्वतंत्र है; उसे ही निश्चय से स्व से सापेक्ष और व्यवहार से परसापेक्ष कही है। अशुद्ध उपादानरूप पर्याय आस्रवतत्त्व में आ जाती है, अतः वह जीवतत्त्व का लक्षण नहीं होने से (स्व-पर को जाने वह चेतन, स्व-पर को न जाने वह अचेतन; इस लक्षण द्वारा) वह अजीवतत्त्व है, ऐसा स्वाश्रय ज्ञान द्वारा जानकर नित्य एकरूप त्रैकालिक निजपरमात्मतत्त्व को उपादेय मानना, वह परमार्थ श्रद्धा है। इस अपेक्षा सामान्य जीवतत्त्व रागादि परभावों का अकारक कहा है, और रागादि को कर्मकृत भी कहा है।

'समयसार-नाटक' द्वारा शुद्धात्मा का श्रवण करने से हृदय के फाटक खुल जाते हैं

[श्री समयसार-नाटक के अध्यात्मरस भरपूर प्रवचन]

(लेखांक-6)

जिन शास्त्रों में छह द्रव्यों का वर्णन किया है, उनमें जीव का स्वरूप जानकर उसका अनुभव करना चाहिये। जीवादि नव तत्त्वों का सच्चा ज्ञान भी भेदज्ञान तथा आत्मानुभव का कारण है। उनमें प्रथम जीवतत्त्व कैसा है ?

समता रमता ऊरधता ज्ञायकता सुखभास।
वेदकता चैतन्यता ये सब जीव विलास॥26॥

प्रथम 20 श्लोकों में छह द्रव्यों में से जीवद्रव्य का वर्णन था, और इस श्लोक में नवतत्त्वों में से जीवतत्त्व का वर्णन है।

'समता' अर्थात् वीतरागभाव में रमणतारूप लीनता, वह जीव का स्वभाव है। राग में रमे, ऐसा जीव का स्वभाव नहीं है। वीतरागी समभाव में रमे, ऐसा जीव का स्वभाव है। तथा ऊर्ध्वगमन भी उसका स्वभव है। मोक्ष होने पर ऊर्ध्वगमन करके सिद्धालय में निवास करता है। तथा जीव ज्ञायकस्वभाव है, ज्ञायकपना ही उसका स्वभाव है।

'रमता' अर्थात् रम्यता; जगत में आत्मा ही रम्य वस्तु है, उसी से सब शोभायमान है तथा आत्मा को स्वभावकी ऐसी 'ऊर्ध्वता' अर्थात् मुख्यता है कि उसकी विद्यमानता में ही जगत के पदार्थों में सबसे आगे, सबसे मुख्य, सबसे उच्च, सबसे प्रधान वस्तु आत्मा ही है।

श्रीमद् राजचंद्रजी ने इस समयसार नाटक को पढ़कर 26और 27वें श्लोक का सुंदर अध्यात्म अर्थ लिखा है जो निम्नानुसार है:—

'जीव' नाम का पदार्थ जैसा है, वैसा श्री तीर्थंकर परमदेव ने स्पष्ट जाना है, अनुभव

किया है, तथा उसीप्रकार प्रगट कहा है। हम स्वयं स्पष्ट प्रगटरूप से ऐसे आत्मा हैं, और तुम्हारे आत्मा को तुम भी ऐसा ही समझो।

— आत्मा कैसा है? प्रथम तो 'समता' लक्षण से युक्त है। वर्तमान में जैसी असंख्यप्रदेशात्मक चैतन्यस्थिति है, वैसी ही तीनों काल उसकी स्थिति है। उसका असंख्यप्रदेशत्व, चैतन्यत्व, अरूपित्व आदि कोई स्वभाव किसी भी काल में छूटता नहीं है, सदा ज्यों का त्यों रहता है—ऐसा 'समपना' अर्थात् 'समता' आत्मा का लक्षण है।

— तथा आत्मा में 'रमता' है, रमता अर्थात् रम्यता, रमणीयता, सुंदरता। श्रीमद् राजचंद्र कहते हैं कि ऐसा रम्य जो आत्मा है, उसमें हे जीव! तू रमक हो। त्वरा से उसमें रमण कर, तथा अन्य की रमणता छोड़। रमता अर्थात् रमणीयता (रम्यस्थान) तो आत्मा में है, अन्य कोई रम्य स्थान नहीं।

पशु-पक्षी, मनुष्यादि देह में, वृक्षादि में जो कुछ रमणीयता प्रतीत होती है अथवा जिसके द्वारा वे सब प्रगट स्फूर्तिवान ज्ञात होते हैं, प्रत्यक्ष सुंदरता युक्त दिखते हैं, वह रमणीयता अर्थात् रमता-रम्यता जीव के कारण है, जिसके बिना सारा जगत शून्यवत् भासित होता है, ऐसी रम्यता जिसका लक्षण है, वह जीव है; जीव न हो तो यह शरीर कैसा लगे? जीव रहित शरीर-मुर्दा तो देखना भी अच्छा नहीं लगता; जीव के अस्तित्व से सब शोभा है। इसप्रकार जीव में रम्यता है। ऐसे रम्य आत्मा को जानकर त्वरा से उसमें रमक होओ और परभावों की रमणता छोड़ो।

— अब 'ऊर्ध्वता' के अर्थ में श्रीमद् राजचंद्र लिखते हैं कि—कोई भी जाननेवाला, कभी भी, किसी भी पदार्थ को अपनी अविद्यमानता में जाने, ऐसा हो नहीं सकता। पहले अपनी विद्यमानता घटित होती है, तथा किसी भी पदार्थ का ग्रहण-त्यागादि या उदासीन ज्ञान होने से स्वयं ही कारण है; दूसरे पदार्थ के ग्रहण में, उसके अल्पमात्र भी ज्ञान में पहले यदि (जीव) हो, तभी (ज्ञान) हो सकता है—ऐसा सर्वप्रथम रहनेवाला अर्थात् सबसे मुख्य जो पदार्थ है, वह जीव है। उसे गौण करके अर्थात् उसके बिना कोई कुछ भी जानना चाहे तो वह हो नहीं सकता। मात्र वही मुख्य हो, तभी अन्य कुछ जाना जा सकता है।—ऐसा प्रगट ऊर्ध्वता-धर्म जिसमें है उस पदार्थ को श्री तीर्थंकर 'जीव' कहते हैं।

देखो, अंतर की अध्यात्मदृष्टि से जीव के स्वरूप की यह अलौकिक व्याख्या है। श्रीमद् को अंतर की अध्यात्मदृष्टि थी, जिसके बल से अंदर के सूक्ष्म अध्यात्मभावों को खोलकर अर्थ लिखे हैं। जाननेवाला जीव स्वयं न हो तो पदार्थ को कौन जाने? 'इन शरीर, मकान सबको मैं जानता हूँ, परंतु मेरा आत्मा है या नहीं उसकी मुझे खबर नहीं है'—इसप्रकार अपने अस्तित्व को स्वयं भूल रहा है। अरे, स्वयं कहता है कि मैं अपने को दिखाई नहीं देता।-यह कैसी मूर्खता है? कैसा अज्ञान है?

घट-पट आदि जाण तुं तेथी तेने मान;
जाणनारने मान नहीं,-कहिये केवुं ज्ञान?
देह न जाणे देहने, जाणे न इन्द्रिय प्राण;
आत्मानी सत्ता बड़े तेह प्रवर्ते जाण।

भाई! यह सब पदार्थ हैं, वे जानने में आते हैं न? ....हाँ; तो किसकी सत्ता में वह सब ज्ञात होता है? जिसके अस्तित्व में सब ज्ञात होता है, वह तू ही है। तू ही सबको जाननेवाला ज्ञानस्वरूप है। देह को कहीं खबर नहीं है कि 'मैं देह हूँ'। 'यह देह है, यह इन्द्रियाँ हैं'—ऐसा जो जानता है, वह स्वयं देहरूप नहीं हुआ है, परंतु देह से भिन्न रहकर उसे जानता है। ऐसा जाननेवाला पदार्थ वह स्वयं जीव है; इसलिये ज्ञानी कहते हैं—

जाननेवाले को जाने बिना धर्म नहीं होता।
जिसने आत्मा को जाना उसने सब जान लिया।

— देखो, यह आत्मा के ज्ञानस्वभाव की मुख्यता! मुख्यता अर्थात् ऊर्ध्वता। 'प्रथम जीव हो, तभी पदार्थ जानने में आते हैं; यहाँ प्रथम अर्थात् पहले आत्मा था और पश्चात् ज्ञेय हुए—ऐसा उसका अर्थ नहीं है; परंतु प्रथम अर्थात् मुख्य, ऊर्ध्व। स्वयं अपने में रहकर सबको जान ले, सबको जानते हुए भी उनसे पृथक् रहे—अधिक रहे, रागादि को जानते हुए स्वयं रागरूप न हो, स्वयं ज्ञानरूप ही रहे—ऐसा अचिंत्य ज्ञानसामर्थ्य अकेले जीव में है, इसलिये उसमें ऊर्ध्वता है। ऐसे आत्मा को जानने से जीव ऊर्ध्व ऐसी सिद्धगति को प्राप्त करता है। आत्मा जब मोक्ष को प्राप्त करता है, तब एक समय में स्वाभाविक ऊर्ध्वगमन करके वह सिद्धक्षेत्र में सादि-अनंत काल तक स्थिर रहता है तथा अनंत आनंद सहित सदा निजस्वरूप में विराजता है:—

पूर्व प्रयोगादि कारणना योगथी,
ऊर्ध्वगमन सिद्धालय-प्राप्त सुस्थित जो;
सादि अनंत अनंत समाधिसुखमां,
अनंत दर्शन ज्ञान अनंत सहित जो।

जगत के किसी भी पदार्थ को सिद्ध करते हुए उसे जाननेवाला मैं ज्ञानस्वरूप आत्मा हूँ—ऐसा तो पहले निर्णय होना चाहिये। आत्मा का अपना अस्तित्व निश्चित किये बिना किसी भी ज्ञेय का सच्चा ज्ञान नहीं हो सकता—इसलिये सर्व पदार्थों में आत्मा ऊर्ध्व है।

जगत में अनंत सिद्ध भगवंत हैं ...किसने जाना ? .....आत्मा ने।
जगत में पंचपरमेष्ठी हैं ...किसने जाना ? .....आत्मा ने।
जगत में जड़-चेतन तत्त्व हैं ...किसने जाना ? .....आत्मा ने।
जगत में छह द्रव्य हैं ...किसने जाना ? .....आत्मा ने।
जगत में अंतरहित आकाश है ...किसने जाना ? .....आत्मा ने।

इसप्रकार सबको जानने में जाननेवाले की प्रथम मुख्यता है। अनंत सिद्ध भगवंतों का अस्तित्व है—वह किसने जाना ? ज्ञान ने। ज्ञान के अस्तित्व में अनंत सिद्धों का अस्तित्व ज्ञात हुआ। तो जिस ज्ञान ने अनंत सिद्ध भगवंतों के अस्तित्व को स्वीकार किया, उस ज्ञान की शक्ति कितनी ? वह कितना बड़ा ? ऐसे ज्ञानसामर्थ्य द्वारा आत्मा की ऊर्ध्वता एवं महानता है। राग में वह शक्ति नहीं है, राग से रहित ज्ञान में ही ऐसी शक्ति है कि वह ज्ञान स्वयं राग से ऊर्ध्व (-ऊँचा-पृथक्-अधिक) होकर ज्ञानस्वभाव में तन्मय परिणमित हुआ है। ऐसे ज्ञानस्वरूप आत्मा को जानने से महान आनंद होता है और अंतर का द्वार खुल जाता है।—

'नाटक सुनत हिये फाटक खुलत है'

अब, जीव में ज्ञायकता तथा सुखस्वभाव है, वह बतलाते हैं:—

(ज्ञायकता—) प्रगट ऐसे जड़ पदार्थ और जीव, वे जिस कारण से पृथक् होते हैं, वह लक्षण जीव का 'ज्ञायकता' नामक गुण है। किसी भी समय ज्ञायकता रहित होकर यह जीव पदार्थ किसी का भी अनुभव नहीं कर सकता, और उस 'जीव' नामक पदार्थ के अतिरिक्त अन्य किसी पदार्थ में ज्ञायकता संभवित नहीं है। ऐसा जो अत्यंत अनुभव का कारण

'ज्ञायकता'—वह लक्षण जिसमें है, उस पदार्थ को तीर्थंकर भगवान ने 'जीव' कहा है।

श्रीमद् राजचंद्रजी ने सरल भाषा में जीव के स्वरूप का अत्यंत सुंदर स्पष्टीकरण किया है। ज्ञानी की अंतरदशा को कोई विरले ही पहिचानते हैं। ज्ञानी के जो न्याय आत्मा का स्पर्श करके निकलते हों, वे शास्त्र-धारणा की अपेक्षा भिन्न प्रकार के होते हैं।

अब 'सुखभास' शब्द का अर्थ कहते हैं; उसमें जीव के सुखस्वभाव की सिद्धि करेंगे।

[शेष अगले अंक में]

पुस्तक-विक्रय-विभाग की ओर से सूचना

हमारी संस्था द्वारा प्रकाशित पुस्तकें मँगवानेवाले पुस्तक-विक्रेताओं, मुमुक्षु मंडलों एवं व्यक्तिगत पुस्तकें खरीदनेवालों को पोस्टेज-पेकिंग तथा रेलवे खर्च में राहत देने के लिये तथा प्रचार हेतु हिन्दी एवं गुजराती के समस्त प्रकाशनों पर 50 पचास रुपये मूल्य की या अधिक की पुस्तकें एकसाथ खरीदनेवालों को 10% दस प्रतिशत कमीशन दिया जायेगा।

बाहर से पुस्तकें मँगनवानेवालों को पोस्टेज-पेकिंग तथा रेलवे खर्च में राहत देने हेतु ही योजना बनायी गई है, इसलिये हमारे विक्रय-विभाग से रूबरू पुस्तकें खरीदनेवालों को यह कमीशन-योजना लागू नहीं होगी।

प्रेषक—
दिगम्बर जैन स्वाध्यायमंदिर ट्रस्ट
सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

रत्नत्रय के महा निधान से सुशोभित

आनंदमय चैतन्यगृह

[धनतेरस के दिन श्री नियमसार गाथा 136 पर पूज्य श्री कानजीस्वामी का प्रवचन]

जिसमें रत्नत्रय का भंडार भरा है, ऐसे निज-परमात्मा को प्राप्त करनेवाला जीव कैसा है ? अर्थात् निज-परमात्मा की अनुभूति द्वारा जो मोक्षमार्ग को साध रहा है, वह जीव कैसा है ?—उसका वर्णन है। उस जीव को मोक्ष की निश्चयभक्ति है अर्थात् अपने परमात्मा की भक्ति है।

अपने चैतन्य-परमात्मसमुद्र में से आनंद का अमृत पीने में वह जीव अभिमुख है; वह रागादि विकल्पों के सन्मुख नहीं है, उनसे तो विमुख है—भिन्न है और अंतर में अपने अनंत आनंद के समुद्र में अभिमुख होकर आनंदरस का पान करने में तत्पर है। आनंद का समुद्र मैं स्वयं ही हूँ—ऐसी अभेद अनुभूति द्वारा स्वयं आनंदरूप हुआ है; ऐसा मोक्षमार्ग है, उसमें कोई भेद-कल्पना नहीं है, विकल्प नहीं है, दुःख नहीं है, अशांति नहीं है। अरे, चैतन्य के वेदन में विकल्प कैसे ? चैतन्यवस्तु स्वयं विकल्परहित है।

अहा, ऐसी चैतन्यवस्तु मैं हूँ—इसप्रकार स्वतत्त्व की परम महिमापूर्वक अपने स्वरूप का निर्णय करना, वही अनुभूति का मार्ग है। चैतन्यसूर्य उदित होने का सरल मार्ग यह है, अन्य कोई मार्ग नहीं है। अंतर का मार्ग तो अंतर में ही होगा न! शांति तो अंतर में है, बाह्य में कहीं शांति नहीं है।

आत्मा स्वसन्मुख होकर जहाँ सम्यक्रत्नत्रयरूप परिणमित हुआ, वहाँ वह मोक्षमार्ग में स्थित हुआ। उसके सम्यक्रत्नत्रय रागरहित हैं, उनमें भेद नहीं है, विकल्प नहीं है, उनमें तो चैतन्य के परम आनंदरस का पान है। ऐसी शुद्ध मोक्षमार्गरूप परिणति में जो अपने आत्मा को परिणमित करे, वह जीव मोक्ष की परम भक्ति करनेवाला अर्थात् मोक्ष का आराधक है।

आज 'धनतेरस' है। अज्ञानी लोग बाह्य धन की भावना भाते हैं, परंतु सच्चा धन ऐसा जो निजस्वरूप; उसके सन्मुख होकर स्वरूप की लक्ष्मी का स्वसंवेदन करना, वही धन्य है! आत्मा को चैतन्यलक्ष्मी को भजना, वह मोक्षसम्पदा की प्राप्ति का कारण है।

भाई, तुझे आनंदरस पीना हो तो अपने आत्मा को राग में से उठाकर अपनी निर्मलपर्याय में स्थापित कर। अपने परिणाम को परमतत्त्व के सन्मुख कर, उसी में आनंदरस का अनंत सागर भरा है। भाई, तेरा चैतन्यतत्त्व आनंद से भरपूर है, तेरा निजगृह आनंद से सुशोभित है। ऐसे आनंदमय निजगृह में वास करने से आत्मा स्वयं महा शुद्ध सम्यक्रत्नत्रयरूप परिणमित होता है अर्थात् स्वयं मोक्षमार्ग में स्थित होता है। पहले राग में एकता के कारण दुःख से पीड़ित था; अब राग से भिन्न चेतना द्वारा आनंद का अनुभव करता है। स्व में सन्मुख और पर से विमुख होना, उसमें अन्य की अपेक्षा कहाँ है ? अन्य परमात्मा की ओर के भाव द्वारा भी निजपरमात्मा के सन्मुख नहीं हुआ जाता। अपना परमात्मतत्त्व अपने से ही शोभायमान है, उसे किसी अन्य की अपेक्षा नहीं है, वह अद्भुत आनंदकारी है।

वीतरागी देव-गुरु ने ऐसा तत्त्व कहा है, उसे जान तो लिया, परंतु ज्ञान जब तक वीतरागी देव-गुरु के ही सन्मुख रहे और स्व में परिणाम न लगाये, तब तक आत्मतत्त्व की स्वानुभूति नहीं होगी। स्वानुभूति तो अंतर्मुख परिणाम है, वह बहिर्मुख परिणाम द्वारा कैसे होगा ? बाह्योन्मुखता से अंतर में कैसे आया जायेगा ? अंतर का मार्ग तो परम निरपेक्ष, मात्र निज-स्वभाव में समाता है। चैतन्यचमत्कारी आत्मवस्तु ही कोई अद्भुत है कि जो अकेली अपने में से ही मोक्षमार्ग निकालकर उसमें स्वयं स्थित और आनंद से स्वयं सुशोभित होती है।

अहा, उत्कृष्ट शांति का धाम, अनंत सुख का धाम ऐसा यह चैतन्यगृह! वह महान रत्नत्रय के भंडार से सुशोभित है, उसमें कोई विपदा नहीं है; उसे किसी अन्य की सहायता या आधार नहीं है, आत्मा निराधाररूप से स्वयं अपने चैतन्यधाम में स्वभाव से स्थित रहनेवाला—सुशोभित होनेवाला-मोक्षमार्ग में चलनेवाला है। भाई, अंतर्मुख हुए बिना ऐसा मार्ग नहीं मिल सकता।

विविध समाचार

सोनगढ़ (सौराष्ट्र) पूज्य गुरुदेव सुख-शांति में विराजमान हैं। प्रातः 8से 9 बजे तक श्री नियमसार शास्त्र के निश्चय-परमावश्यक अधिकार पर तथा दोपहर को 2 से 3 बजे तक श्री समयसारजी शासत्र के जीव-अजीव अधिकार पर प्रवचन होते हैं। श्री समयसार शास्त्र पर सत्रहवीं बार प्रवचन प्रारंभ हुए हैं।

श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमंदिर ट्रस्ट के माननीय अध्यक्ष श्री नवनीतलाल जवेरी पिछले तीन माह से अस्वस्थ थे; अब आपका स्वास्थ्य सुधर रहा है। पूज्य स्वामीजी के दर्शनों की तीव्र अभिलाषा होने से स्वामीजी कार्तिक कृष्णा 10-11 को दो दिन के लिये बम्बई पधारे थे। इस अवसर पर श्री नवनीतभाई के सुपुत्र श्री किरणभाई जवेरी ने ज्ञान-प्रचार हेतु दस हजार रुपये के दान की घोषणा की थी।

मध्यप्रदेश मुमुक्षु मंडल की प्रगति के समाचार

खनियाधानाः — दिनांक 26-9-71 से 5-10-71 तक जैन समाज खनियाधाना के द्वारा स्वाध्याय मंडल के तत्त्वावधान में एक बड़े रूप में शिक्षण-शिविर का आयोजन किया गया। शिविर का उद्घाटन ब्रह्मचारी श्री भंवरलालजी इंदौर द्वारा हुआ था, इस अवसर पर सैकड़ों नर-नारी बाहर से पधारे थे।

विद्वान वर्ग में श्री पंडित धन्नालालजी ग्वालियर, श्री पंडित रतनचंदजी शास्त्री विदिशा, श्री पंडित ज्ञानचंदजी विदिशा, श्री पंडित मुन्नालालजी ललितपुर तथा श्री पंडित चंपालालजी नसीराबाद पधारे थे तथा शिक्षण वर्ग में शिक्षक श्री हरीचरणलाल बांसगढ़, श्री विजयकुमार वरायठा, श्रीमती कमलाबाई विदिशा, श्री शकुन्तलाबाई ललितपुर आदि पधारे थे।

सुबह 5 बजे से रात के 10 बजे तक 3 शिक्षण वर्ग तथा 3 प्रवचन कुल 6घंटे का कार्यक्रम प्रतिदिन रहता था, बाहर के करीब 300 व्यक्ति प्रथम दिन से ही रहे जिन्होंने आत्मलाभ लिया और मुमुक्षु बढ़ते ही गये।

शिक्षण शिविर में 37 ग्रामों के लोग आये थे, कुल उपस्थिति प्रतिदिन सुबह से सायंकाल तक बराबर एक सी रहती थी क्योंकि इन 10 दिनों में सारी समाज ने अपना लौकिक कार्य बिलकुल बंद कर रखा था। प्रतिदिन की उपस्थिति करीब 1000 व्यक्तियों की रहती थी।

बालबोध पाठमालाओं की परीक्षा में 198विद्यार्थी बैठे। जिसमें 196उत्तीर्ण हुये, सभी को दिनांक 5-10-71 को श्री मोतीलालजी चौधरी अशोकनगर के द्वारा यथायोग्य पुरस्कार वितरण किया गया।

पुस्तक विभाग:—इन दस दिनों में सोनगढ़ तथा जयपुर के साहित्य की अच्छी बिक्री हुई, जिसे पढ़कर मुमुक्षुओं ने बहुत हर्ष व्यक्त किया, जिन्होंने अभी तक यह साहित्य ग्रामों में देखा ही नहीं था, उन्होंने कहा कि यह तो हमें अमूल्य निधि जैसी मालूम होती है। अधिक संख्या में आत्मधर्म के नये ग्राहक बनाये गये।

शिवपुरी जिले के खनियाधाना परगने में इसप्रकार का यह प्रथम शिविर था, जिसकी रुचि के फलस्वरूप अनेक जगह भी तैयारियाँ प्रारंभ हो गई हैं। अंतिम दिन समाज की ओर से पूज्य कानजीस्वामी का अभार प्रदर्शन किया गया।

विदिशा:—दिनांक 10-10-71 से 21-10-71 तक स्थानीय शिक्षण-शिविर स्थानीय विद्वान श्री पंडित ज्ञानचंद जैन विदिशा के द्वारा माधोगंज स्टेशन मंदिर पर (विषय - निमित्त-उपादान, निश्चय-व्यवहार, स्यादवाद, अनेकांत आदि) तथा श्री पंडित रतनचंदजी शास्त्री विदिशा के द्वारा किला अंदर मंदिर में छहढाला की दूसरी ढाल में सात तत्त्वों की भूल पर चलाया गया; जिससे समाज ने काफी लाभ लिया, एवं उल्लास दिखाया। अंतिम दिनांक 21-10-71 को पूज्य कानजीस्वामी के आभार-प्रदर्शन पूर्वक यह समारोह समाप्त हुआ।

इसके अतिरिक्त विदिशा में दिनांक 21-9-71 को एक वीतराग विज्ञान मित्र मंडल की स्थापना हुई, उसका उद्घाटन दिनांक 21-9-71 को श्री पंडित रतनचंदजी शास्त्री विदिशा के निवास स्थान पर श्री पी.सी. सेठी आचार्य डिग्री कालेज के द्वारा हुआ। जिसका मूल उद्देश्य तत्त्व के प्रचार और प्रसार में आत्मसमर्पण की भावना जागृत करना है।

पंधाना (म.प्र.):—ब्रह्मचारी हेमराजजी के सत् प्रयत्नों से खंडवा से 12 मील दूर ग्राम पंधाना में एक नवीन मुमुक्षु मंडल की स्थापना हुई, वहाँ के मुमुक्षुओं में तत्त्व के प्रति तीव्र

रुचि है। ब्रह्मचारी जी से आत्मलाभ प्राप्त कर रहे हैं।

ज्ञानचंद्र जैन, प्रचार मंत्री
मध्यप्रदेशीय मुमुक्षु मंडल केन्द्र, विदिशा

सागर (म.प्र.):—सागर श्री जैन समाज तथा श्रीमान् सेठ भगवानदासजी के विशेष आमंत्रण पर सोनगढ़ से श्रीमान् पंडित चिमनलालभाईजी प्रवचन हेतु पधारे; उनके प्रवचनों से सागरस्थ दस हजार जैन जनता ने तथा अन्य लोगों ने धर्मलाभ लिया; पंडितजी ने भारी परिश्रम के साथ तात्त्विक विवेचन कर सरल दृष्टांतों द्वारा समझाकर प्रभावित किया। आपकी प्रवचन-शैली बहुत ही उत्तम है। प्रतिदिन के प्रवचनों का कार्यक्रम इसप्रकार रहा—

सुबह 8 से 9 बजे तक चैत्यालयजी में दशधर्म पर, फिर 8 से 10 बजे तक कटरा जैन मंदिर में, 2 बजे से 3 बजे तक क्लास (पढ़ाई) जैन सिद्धांत प्रवेशिका 3 बजे से 4 बजे तक शंका-समाधान और तत्त्वचर्चा कटरा में रही। रात्रि को 7 से 8 बजे तक चौधरनबाई के मंदिर में और 8 से 9 बजे तक कटरा में होता था, तथा बीच-बीच में उनके स्थान पर भी तत्त्वचर्चा होती थी।

आपके प्रवचनों द्वारा धर्म की काफी जागृति हुई और अंत में आपका जगह-जगह स्वागत समारोह आभार प्रदर्शन किया गया। आपने कहा कि यह सब पूज्य स्वामीजी का दिया हुआ प्रसाद है कि जो जगह-जगह बाँट रहा हूँ। अंत में बंडा ग्राम की जैन समाज के आग्रह पर आप 3 दिन वहाँ भी गये। प्रवचन से काफी लोग प्रभावित हुये। फिर आप खुरई की जनता के आग्रह पर खुरई गये और वहाँ आपका प्रवचन हुआ। वहाँ भी काफी जागृति हुई है।

सागर की जैन समाज पूज्य स्वामीजी का भारी उपकार मानती है, तथा प्रचार-विभाग के व्यवस्थापकों का आभार मानती है। —सागर जैन समाज एवं मुमुक्षु मंडल

(नोट : उपरोक्त समाचार पर्यूषण पर्व के हैं, जो गतांक में भूल से रह गये थे।)

खंडवा (म.प्र.):—ब्रह्मचारी हेमराजजी महाराज यहाँ 3 माह से हैं। प्रातःकाल 5 से 6 बजे तक जैनसिद्धांत प्रवेशिका, सायंकाल छहढाला की कक्षाएँ चलाईं। प्रातःकाल समयसार और रात्रि में मोक्षमार्गप्रकाशक का मार्मिक प्रवचन करते रहे।

यहाँ पर तीन माह से ज्ञानगंगा तीव्र गति से बह रही थी। आजकल आप मलकापुर हैं। पत्र-व्यवहार निम्न पते पर करें।

पता—श्री ब्रह्मचारी हेमराजजी
द्वारा श्रीमान् नेमीचंदजी जैन,
दिगम्बर जैन समाज, मलकापुर (महाराष्ट्र)

पंडित श्रीराम जैन शास्त्री
बी.ए., डीप.टी.
खंडवा (म.प्र.)

बाशीम (महा.) से श्री ब्रह्मचारी दीपचंदजी (जो हमेशा श्री नवनीतभाई जवेरी की ओर से प्रचारकार्य करते हैं) लिखते हैं कि—मालेगाँव (जहाँगीर) में टेपरीलों द्वारा स्वामीजी के प्रवचन, जैन तीर्थयात्रा की फिल्म प्रदर्शन, शास्त्रसभा आदि कार्यक्रम के पश्चात् शिरपुर (अन्तरीक्ष पार्श्वनाथ) आया; वहाँ ब्रह्मचारी श्री धन्यकुमारजी से मिला; यहाँ कार्यक्रम के पश्चात् रिठद गया। रिठद में 4 दिन का कार्यक्रम था, वहाँ जैन समाज के अलावा अन्य समाज में भी दो कार्यक्रम दिये तथा हाईस्कूल के शिक्षकों को व्याख्यान सुनाया। यहाँ जैन स्वाध्याय मंडल की स्थापना की गई।

रिठद (अकोला)—ब्रह्मचारी पंडित दीपचंद गोरे का यहाँ पर दिनांक 9 अक्टूबर को आगमन हुआ। यहाँ पर आपके पाँच प्रवचन हुए तथा टेप-रिकार्ड द्वारा अच्छी धर्म-प्रभावना हुई। एक कार्यक्रम यहाँ के हाईस्कूल में हुआ। जिससे अजैन समाज में भी विशेष धर्म रुचि रही। यहाँ से पंडितजी का गमन रिसोड ग्राम में हुआ। वहाँ पर भी अच्छी धर्मप्रभावना हुई। ओंकार वा. राऊत जैन, रिठद (जिला अकोला)

पुसदः—यहाँ छह दिन तक कार्यक्रम हुए; फलस्वरूप जैनधर्म शिक्षण-शिविर लगाने का निर्णय किया गया है—यह विशेष आनंद की बात है। यहाँ से अष्टाह्निका के मेले में कार्तिक शुक्ला 8से 15 तक शिरपुर (अंतरिक्ष पार्श्वनाथ) में कार्यक्रम हुए। पुसद के अलावा फालेगाँव में भी जैनधर्म शिक्षण-शिविर लगाने का निर्णय हुआ है। यहाँ से आकोला, जिन्तूर जाने का कार्यक्रम है।

पता—ब्रह्मचारी दीपचंद जैन,
द्वारा मधुकर अटाल एम.ए.
ए.एच.एम. शिवाजी हाईस्कूल, आकोला (महाराष्ट्र)

जसवंतनगर (इटावा) श्री पंडित धन्नालालजी ग्वालियरवालों ने तारीख 21-10-71 से पाँच दिन तक लगातार अध्यात्मगंगा बहाई। आपका कार्यक्रम प्रतिदिन छह घंटे का रहता था। आपकी आध्यात्मिक शैली से हम सब प्रभावित हैं। पूज्य स्वामीजी के द्वारा जो जैन तत्त्वज्ञान का प्रचार हो रहा है, वह अद्वितीय है। — दिगम्बर जैन मुमुक्षु मंडल

आगरा (उ.प्र.)—श्री ब्रह्मचारी पंडित रमेशचंद्रजी (जो श्री नवनीतलाल जवेरी की ओर से देश में जगह-जगह जाकर जैनधर्म का प्रचार करते हैं) पिछले दिनों दीपावली पर आगरा में 15 दिन रहे और अच्छा धार्मिक कार्यक्रम प्रस्तुत किया। अब शिकोहाबाद जन समाज के अनुरोधवश शिकोहाबाद (उ.प्र.) पहुँच गये हैं; वहाँ 8दिन का कार्यक्रम है। यहाँ जैन समाज के करीब 150 घर और 4 जिनमंदिर हैं। —महावीरप्रसाद

कैसा सुन्दर मार्ग

अहो, मोक्षमार्ग अंदर में समाया हुआ है। देव-गुरु की वाणी जहाँ पहुँचती नहीं है, विकल्प का जहाँ प्रवेश नहीं है, पर्याय का जिसमें आश्रय नहीं है—ऐसा अकेला अंतर्मुख स्वभाव-आश्रित निरालंबी मार्ग है। ऐसे मार्ग को संत साधते हैं और जगत को बतलाते हैं।

सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान-सम्यक्चारित्र यह तीनों कार्य आनंददायक हैं। इन्हीं से आनंद सहित मोक्ष साधा जाता है। अहो, अतीन्द्रिय सुख के साधनरूप यह श्रेष्ठ शुद्धरत्नत्रयकार्य, उसका कारण भी अपने में त्रिकाल है। उसके सेवन से मुमुक्षु मोक्ष को साधते हैं—ऐसा मोक्ष का मार्ग है।

हिरदै हमारे भगवंत की भगति है

कबहूँ सुमति है कुमतिकौ विनाश करै,
कबहूँ विमल ज्योति अंतर जगति है;
कबहूँ दया व्है चित्त करत दयालरूप;
कबहूँ सुलालसा हैं लोचन लगति है;
कबहूँ आरती व्है कै प्रभु सनमुख आवै;
कबहूँ सुभारती व्है बाहरि बगति है;
धरै दशा जैसी तब करै रीति तैसी ऐसी,
हिरदै हमारे भगवंत की भगति है॥

हमारे हृदय में भगवान की जो भक्ति है, वह कभी सुबुद्धिरूप होकर कुबुद्धि को नष्ट करती है, कभी निर्मल ज्योतिरूप अंतर में झलकती है, कभी दयारूप होकर चित्त को दयालु बनाती है, कभी अनुभव की पिपासारूप होकर नेत्रों को स्थिर करती है; कभी आरतीरूप (ज्योतिरूप) होकर प्रभु के सन्मुख आती है, कभी सुंदर वचनों से स्तोत्र बोलती है; जब जैसी दशा होती है, तब वैसी क्रिया करती है।

—ऐसी भगवान की भक्ति हमारे अंतर में वर्तती है।

(पंडित बनारसीदासजी : समयसार नाटक)

आत्मा का सत्यस्वरूप सम्यक् अनेकांत द्वारा बतलाकर सच्चा समाधान एवं
अपूर्व शांति का उपाय दर्शानेवाले—

सुरुचिपूर्ण प्रकाशन

1	समयसार	(प्रेस में)
2	प्रवचनसार	4.00
3	समयसार कलश-टीका	2.75
4	पंचास्तिकाय-संग्रह	3.50
5	नियमसार	4.00
6	समयसार प्रवचन (भाग-1)	4.50
7	समयसार प्रवचन (भाग-४)	4.00
8	मुक्ति का मार्ग	0.50
9	जैनसिद्धांत प्रश्नोत्तरमाला भाग-1	0.75
	'' '' '' भाग-3	0.50
10	चिद्विलास	1.50
11	जैन बालपोथी	0.25
12	समयसार पद्यानुवाद	0.25
13	द्रव्यसंग्रह	0.85
14	छहढाला (सचित्र)	1.00
15	अध्यात्म-संदेश	1.50
16	नियमसार (हरिगीत)	0.25
17	श्रावक धर्म प्रकाश	2.00
18	अष्ट-प्रवचन (भाग-1)	1.50
19	अष्ट-प्रवचन (भाग-२)	1.50
20	मोक्षमार्गप्रकाशक	2.50
21	पं. टोडरमलजी स्मारिका विशेषांक	1.00
22	बालबोध पाठमाला, भाग-1	0.40
23	बालबोध पाठमाला, भाग-2	0.50
24	बालबोध पाठमाला, भाग-३	0.55
25	वीतरागविज्ञान पाठमाला, भाग-1	0.55
26	वीतरागविज्ञान पाठमाला, भाग-2	0.65
27	वीतरागविज्ञान पाठमाला, भाग-3	0.65
	छह पुस्तकों का कुल मूल्य	3.30
28	लघु जैन सिद्धांत प्रवेशिका	0.25
29	वीतरागविज्ञान प्रशिक्षण निर्देशिका	2.25
30	खानिया तत्त्वचर्चा (भाग-1)	8.00
	'' '' (भाग-2)	8.00
31	मंगल तीर्थयात्रा (सचित्र गुज०)	6.00
32	मोक्षमार्गप्रकाशक सातवाँ अध्याय	0.50
33	जैन बालपोथी भाग-2	0.40
34	अष्टपाहुड़ (कुन्दकुन्दाचार्यकृत) पं. जयचंदजीकृत भाषावचनिका	4.50
35	ज्ञानस्वभाव और ज्ञेयस्वभाव	3.00
36	दशलक्षण धर्म	0.75
37	शब्द-कोष	0.20
38	हितपद संग्रह (भाग-2)	0.75

प्राप्तिस्थान :

श्री दिगम्बर जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट,

सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

प्रकाशक : श्री दिगम्बर जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट, सोनगढ़ (सौराष्ट्र)
मुद्रक : मगनलाल जैन, अजित मुद्रणालय, सोनगढ़ (सौराष्ट्र)